प्रकार हमें भी समय-समय पर धार्मिक कार्य करते रहना चाहिये और समय-समय पर आने वाली कुरीतियों-कुप्रणालियों से बचते रहना चाहिए।

आज इस जन्म कल्याणक के दिन हमें विचार करना चाहिए कि जन्म, शरीर का हुआ है। आत्मा तो अजर-अमर है, वह जन्मता मरता नहीं है। मात्र आवागमन हो रहा है। इस आवागमन से मुक्त होना ही सच्चा पुरुषार्थ है। यही कल्याणकारी है। शरीर का कल्याण नहीं करना है, हमें आत्मा का कल्याण करना है। शरीर की पूजा नहीं करनी, शरीर में बैठी हुई रत्नत्रय गुण से युक्त आत्मा की ही पूजा करनी है। उसी की जयन्ती मनानी है। अमूर्त आत्मा की प्राप्ति में शरीर तो साधन मात्र है। इसका अभिमान नहीं करना चाहिए।

एक बार की बात है। इन्द्र की सभा चल रही थी। इन्द्र स्वयं पृथ्वी के चक्रवर्ती के रूप में प्रशंसा कर रहे थे। कह रहे थे कि हम देवों के पास कुछ रूप है ही नहीं। असली रूप का अवलोकन करना हो तो पृथ्वी पर जाकर देखो। कुछ देवों के मन में परीक्षा करने की बात आ गयी। वे नीचे उतरे और जहाँ अखाड़े में चक्रवर्ती धूल-धूसरित होकर कसरत कर रहा था, वहाँ पहुँचे। देव उस छवि को देखकर अवाक् रह गये। सोचने लगे वास्तव में रूप तो सही है। देवों के द्वारा अपनी प्रशंसा सुनकर चक्रवर्ती को अभिमान आ गया। चक्रवर्ती कहने लगा, अभी क्या रूप देखते हो। अभी स्नान करके आभूषण पहन कर जब राज-दरबार में आऊँगा तब देखना। देव राज-दरबार में पहुँचे। राजा आये। राज-सिंहासन पर बैठ गये। पर देवों ने देखा कि अब वह रूप नहीं रहा। अब वह छवि नहीं रही। वे अपने अवधिज्ञान से जान गये कि रूप, लावण्य में कमी आ गयी है और वे बाहर से ही वापिस लौटकर जाने लगे। राजा ने उन्हें बुलाया और पूछा कि क्या बात है? क्या मैं अब सुन्दर नहीं लगता? तब देवों ने कहा- राजन् आपको देखना ही है तो एक थाल मंगा लो और उसमें थूककर देखो। थाल मंगाया गया। राजा ने थूका तो उसमें कितने ही बिलबिलाते रोग के कीड़े देखने में आये। इस शरीर में ऐसे ही घिनावने पदार्थ भरे हुए है। यह बात राजा की समझ में आ गयी। वे सामान्य राजा नहीं थे। चक्रवर्ती सनतकुमार थे। कामदेव थे। सोचने लगे-शरीर का स्वभाव ही जब ऐसा है तो इसका अभिमान करना व्यर्थ है। भेद-विज्ञान हो गया। वैराग्य आ गया। वे दीक्षित हो गये।

'जगत्काय-स्वभावौ वा संवेग-वैराग्यार्थम्'- संसार और शरीर के स्वभाव को जानकर जो संवेग और वैराग्य धारण करते हैं, वे धन्य हैं। शरीर को पढ़ने

वाला, शरीर के स्वभाव को जानने वाला अपढ़ भी भेदविज्ञान को प्राप्त कर लेता है और अपने कल्याण के मार्ग पर चल पड़ता है। लेकिन आज तो समयसार को दस बार, पढ़ने वालों को भी संसार, शरीर और भोगों से वैराग्य नहीं आ रहा। छह खंड पर राज करने वाले, अनेक सांसारिक कार्यों में लिप्त रहने वाले सनत चक्रवर्ती ने क्षणभर में सब त्याग कर दिया। सभी ने समझाया कि राजन्! आपके पास सुख सम्पदा है, भोग सामग्री है। देवों के समान सुन्दर शरीर अपने पाया है। इसका भोग करने के बाद योग धारण करना। अभी से क्यों योग अपनाने चले हो? परन्तु सनतकुमार रत्नत्रय धारण कर लेते हैं और कुछ समय के उपरांत उनके शरीर में कोढ़ फूट जाता है लेकिन भेदविज्ञान के बल से शरीर के प्रति वैराग्य होने के कारण वे अपने रत्नत्रय में अडिग बने रहते हैं। कल ऐसे ही रत्नत्रय की बात आने वाली है। कल के दीक्षा-कल्याणक की आज से ही भूमिका बता रहा हूँ ताकि कल तक शायद आप लोगों में से कोई भव्यात्मा दीक्षा के लिये तैयार हो जाये।

शरीर के प्रति वैराग्य और जगत् के प्रति संवेग- ये दो बातें ही आत्म-कल्याण के लिए आवश्यक है। चार प्रकार के उपदेश होते हैं। जिसमें संवेगनीय और निर्वेगनीय- ये दो उपदेश ही जीव के कल्याण में मुख्य रूप में सहायक बनते हैं। आक्षेपणी और विक्षेपणी धर्मकथा/धर्मोपदेश न आदि में काम आते हैं और न ही अंत में सल्लेखना के समय काम आते हैं। वे तो मध्य के काल में उपयोग लगाने के लिये ही उपयोगी है। इसलिये संवेग और वैराग्य की बातें ही साधक को मुख्य रूप से ध्यान में रखना चाहिए। उन्हीं का बार-बार चिंतन-मनन करना चाहिए।

कुछ समय के उपरांत फिर इन्द्र की सभा में चर्चा आई और इन्द्र ने कहा कि हम तो यहाँ मात्र शास्त्र-चर्चा में ही रह गये और वहाँ पृथ्वी पर साक्षात् चारित्र को धारण करने वाले सनतकुमार चक्रवती धन्य हैं। महान् तपस्वी को देखना चाहो तो इस समय मात्र सनत चक्रवर्ती के अलावा कोई दूसरा नहीं है। उन दो देवों को बड़ा आश्चर्य हुआ कि यह चक्रवर्ती क्या तप करेगा उसे तो अपने रूप का अभिमान हो गया था। फिर भी उन्होंने सोचा कि चलो चलते हैं। चलकर देखेंगे। दोनों भेष बदलकर पहुँचे। बोले महाराज! आपको क्या हो गया? आपकी कंचन जैसी काया थी। सारी कुष्ट-रोग से गल गयी है। आप चाहो तो हम इसे पहले जैसी कर सकते हैं।

आप बहुत पीड़ा महसूस कर रहे होगे। हम आपको इस रोग से मुक्त करा सकते है। अब सनत चक्रवर्ती तो राजा से महाराज हो गये। मुनिराज हो गये थे। बोले-भइया! इससे भी भयानक एक रोग और है मुझे। हो सके तो उसका इलाज कर दो। दोनों देव बोले- आप हमें बताये। हम ठीक कर देंगे। ऐसा कोई रोग नहीं जिसकी औषध जिसका इलाज हमारे पास न हो। मुनिराज कहने लगे-भइया! मुझे तो जन्म-जरा-मृत्यु का रोग है, आवागमन की पीड़ा है। कोई ऐसी औषध बताओ जिससे मेरा संसार में आना-जाना रुक जाये। वे देव स्वयं उसी से पीड़ित थे। तब महाराज बोले-भइया! शरीर के रोग का इलाज कोई इलाज नहीं है। ये शरीर में आया हुआ रोग तो कर्म-निर्जरा में सहायक है। संवर पूर्वक की गई निर्जरा से ही आना-जाना रुकता है। मुक्ति मिलती है। आत्मा स्वस्थ हो जाती है। देव ऐसा सुनकर गद्‌गद हो उठे और कहने लगे कि आप वास्तव में चारित्र के धनी हैं। आपको मुक्ति मिलेगी इसमें कोई सन्देह नहीं है।

तो बन्धुओं! यह काया कंचन जैसी भले ही हो जाये लेकिन यह तो पौद्‌गलिक रचना है। जैसे-जैसे आयु कर्म क्षीण होता जाता है यह भी बिखरती जाती है। पूरण और गलन ही इसका स्वभाव है। आचार्यों ने कहा है जब तक आयु कर्म है, प्रति समय मृत्यु हो रही है। जन्म लिया है तो मृत्यु अवश्य ही होनी है। ये चक्र अनादिकालीन है। इस अनादिकालीन आवागमन से मुक्त होने के लिये जन्म लेने वाली आत्मायें विरली ही होती है। हमें भी अपनी चैतन्य-शक्ति को पहचान कर इस जड़ पुद्‌गल शरीर को साधन बनाकर आवागमन से मुक्त होने का प्रयास करना चाहिए। खूब विचार कर लीजिये कि हम किस ओर जा रहे हैं। अभी रात शेष है। कल दीक्षा-कल्याणक है। शरीर से आत्मा को पृथक् मानने के उपरांत उस शरीर से मोह छोड़ने की बात आने वाली है। उसी मार्ग पर सभी को बढ़ना चाहिए। जिससे इस संसार का अंत हो सकें।

रे मूढ ! तू जनमता मरता अकेला,
कोई न साथ चलता गुरु भी न चेला।
है स्वार्थ-पूर्ण यह निश्चय एक मेला,
जाते सभी बिछुड़ के जब अंत बेला॥[1]

□□

1. निजानुभवशतक - आचार्य श्री विद्यासागर कृत, 33

तप : आत्मशोधन का विज्ञान

आज इस शुभ-घड़ी से मुनि ऋषभदेव आत्म-साधना प्रारम्भ करके परमात्मा के रूप में ढल रहे हैं। वे भेद-विज्ञान प्राप्त कर चुके हैं। यही भेदविज्ञान उन्हें केवलज्ञान प्राप्त करायेगा। आत्म-साधना ही केवलज्ञान तक पहुँचाने में समर्थ है। अद्‌भुत है यह आत्म-साधना। भेदविज्ञान जब जागृत हो जाता है तो हेय का विमोचन और उपादेय का ग्रहण होता है। यद्यपि अभी उन्हें उपादेय तत्त्व की परम प्राप्ति नहीं हुई है। तथापि हेय के विमोचन के लिए इनके कदम बढ़ ही चुके हैं। उपादेय की प्राप्ति हो जाये उसके उपरांत हम हेय का विमोचन करें- ऐसा नहीं है। हेय का विमोचन करने पर ही उपादेय की प्राप्ति सम्भव है।

बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजा जिनके चरणों में आकर नौकर-चाकर की तरह हाथ जोड़ें खड़े रहते हैं और उनकी सेवा में ही अपना सौभाग्य मानते हैं। स्वर्ग सम्पदा जिनके चरणों में रहती है ऐसे भोग वैभव आज उन्होंने त्याग दिये हैं। धन्य है उनकी भावना। अद्‌भुत है उनका भेदविज्ञान। त्याग तो इनका ही सच्चात्याग है कि वे अब त्याग करने के बाद उस ओर मुड़कर भी नहीं देखते। यहाँ तक कि किसी से बोलते भी नहीं। सारे सम्बन्ध, सारे नाते तोड़कर मात्र अपनी आत्मा से इन्होंने नाता जोड़ा है। जो भी आज तक अज्ञानतावश जोड़ा था वह सारा का सारा उन्हें नश्वर प्रतीत हुआ है। अब वे इस सबको कभी ग्रहण नहीं करेगे। उनका आवागमन भेदविज्ञान के बल से समाप्त होने वाला है। मैं भी यही चाहता हूँ कि भगवन्! यह अवसर मुझे भी प्राप्त हो। आप कह सकते हैं कि महाराज! आपको तो प्राप्त हो ही गया है। सो आपका कहना कथंचित् ठीक है लेकिन बंधुओं! मैं तो उस भेदविज्ञान की प्राप्ति की बात कर रहा हूँ जो साक्षात् केवलज्ञान दिलाने में सक्षम है।

आचार्यों का कहना है कि आज इस पंचमकाल में साक्षात् केवलज्ञान की प्राप्ति संभव नहीं है। अभी मुक्ति तक पहुँचाने वाली डायरेक्ट ट्रेन उपलब्ध नहीं है। अभी तो बीच में कम से कम दो स्टेशनों पर तो रुकना ही पड़ेगा। हां इतना आनन्द हमें अवश्य मिल रहा है कि हम तो ट्रेनों में बैठ गये हैं, भले ही एक स्टेशन बीच में रुकना पड़े पर पहुँचेगे अवश्य। आपकी आप जाने।

आज मुझे केवलज्ञान की बात विशेष नहीं करनी है। आज तो केवलज्ञान से पूर्व की भूमिका जो तपश्चरण है, उसी की बात करनी है। केवलज्ञान दीक्षा लेने मात्र से नहीं मिलेगा। अभी तो शरीर तपेगा, मन भी तपेगा और वचन भी तपेगा, तब आत्मा शुद्ध होगी। कंचन की भांति निर्मल/उज्ज्वल होगी। अभी तो मन, वचन और काय तीनों से निरावरित/निर्ग्रंथ-दशा का अनुभव करने वाले परिव्राज आदिनाथ ऋषि हैं। आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति की है जो स्वंयभू-स्तोत्र के नाम से प्रचलित है। उसके प्रारम्भ में उन्होंने आदि तीर्थंकर आदिनाथ की स्तुति करते हुए लिखा है-

विहाय यः सागर-वारिवाससँ, वधुमिवेमाँ वसुधा-वधूँ सतीम्।
मुमुक्षुरिक्ष्वाकु कुलादिरात्मवान् प्रभु प्रवव्राज सहिष्णुरच्युतः॥

आचार्य समन्तभद्र स्वामी दार्शनिक होकर भी अध्यात्म की गहराइयों को छूने वाले आचार्य हैं। प्रत्येक स्तोत्र में उनकी लेखनी से जो दर्शन और अध्यात्म निकला है वह उनकी आत्मानुभूति का प्रतीक है। 'मुमुक्षु' शब्द का प्रयोग उन्होंने कहाँ किया है। जहाँ त्याग प्रारम्भ में है। त्याग के उपरांत ही 'मुमुक्षु' कहा है। जब तक वृषभकुमार राजा या राजकुमार रहे तब तक मुमुक्षु नहीं कहा। सर्व परिग्रह का त्याग करते ही वे 'मुमुक्षु' कहलाये। ''मोक्तुं इच्छुः मुमुक्षुः''। मुच्लृ धातु से मुमुक्षु शब्द बना है जो कि छोड़ने के अर्थ में आती है। जिसकी रक्षा के लिये चक्रवर्ती भरत ने अपने भाई बाहुबली पर चक्ररत्न चला दिया उसी सागर पर्यन्त फैली हुई वसुन्धरा को, सारे धन-वैभव-ऐश्वर्य को, घर-गृहस्थी, स्त्री-पुत्र सभी को उन्होंने छोड़ दिया। जो अपना नहीं था उस सबको उन्होंने छोड़ा तभी वे मोक्षमार्ग पर आगे बढ़े हैं।

आज वे प्रव्रज्या ग्रहण करके परिव्राज हुए हैं। दीक्षित हुए हैं। व्रज कहते हैं त्यागने को, तैरने को, आगे बढ़ने को। वे आज सर्व परिग्रह का त्याग करके संसार से पार होने के लिये मोक्षमार्ग पर आगे बढ़े हैं। वे अब मुनि हैं, ऋषि हैं, योगी हैं और तभी उनके लिये मुमुक्षु यह शब्द उपयोग में लाया गया है। भगवान बनने के लिए जो रूप उन्होंने धारण किया है वह आवश्यक है। क्योंकि भगवान बनने में जो बाधक कारण हैं, उन्हें हटाना पहले आवश्यक होता है। बाधक तत्वों का विमोचन करके वे आज निरावरित दिगम्बरी दीक्षा धारण कर चुके हैं। तभी उनका मुमुक्षुपन सार्थक हुआ है।

मुमुक्षु वे कहलाते हैं जिन्होंने अपना लक्ष्य मात्र मुक्ति बनाया है। संसार से ऊपर उठने का संकल्प कर लिया है। सिर्फ मुक्ति को प्राप्त करने की इच्छा रही है और कोई कामना नहीं रही। जो वैभव मिला उसे खूब देख लिया, उसमें रस नहीं मिला। रस उसमें था भी नहीं तो मिलेगा कहाँ से? नवनीत कभी नीर के मंथन से नहीं मिलेगा। सुख-शांति और आनन्द तो अपनी आत्मा में ही है। उन्होंने उस आत्मा को ही अपने पास रक्खा। एक अकेला आत्मा, और कुछ नहीं। उस आत्म-पद के अलावा सारे के सारे पद फीके पड़ गये। 'पर-पद' का विमोचन करना और 'स्व पद' का ग्रहण करना ही मुमुक्षुपन है। यही सम्यग्ज्ञान है। भेदविज्ञान है। ''भेदस्य विज्ञानम् भेदविज्ञानम्। भेदं कृत्वा यद्लभ्यते तत् भेदविज्ञानम्;'' भेद करके जो प्राप्त होता है वह भेदविज्ञान है। ''रागान्वतं यद् ज्ञानं तद् भेदविज्ञानं न, वीतराग स्वसंवेदनं एवं भेदविज्ञानं अस्ति तदेव मुक्ते साक्षात् कारणम्।'' वीतराग-विज्ञान ही मुक्ति का साक्षात् कारण है।

ये बात ध्यान रखना भइया! कि जब तक भोक्ता है तभी तक भोगों की कीमत है। भोक्ता जब उनसे मुख मोड़ लेता है तो भोग्य पदार्थ व्यर्थ हो जाते हैं। यही बात ऋषिराज आदिनाथ मुनिराज की है। उन्होंने आज से वैराग्य का रास्ता अपना लिया है और उस पर अकेले ही चल रहे हैं। बाह्य पदार्थों की शरण, बाह्य पदार्थों का सहारा छोड़कर केवल अपनी आत्मा में ही शरण का संकल्प कर लिया है। इसे कहते हैं दिगम्बरी दीक्षा। दिशाएं ही अम्बर अर्थात् वस्त्र हो जिसका- ऐसा ये रूप है। इस रूप को धारण किये बिना किसी को न मुक्ति आज तक मिली है और न ही आगे मिलेगी।

यह बाह्य में निर्ग्रंथता, अंदर की शेष ग्रन्थियों को निकालने के लिये धारण की है। इसके लिये आचार्यों ने उदाहरण दिया है कि जिस प्रकार चावल प्राप्त करने के लिये सर्वप्रथम धान के ऊपर का छिलका हटाना पड़ता है उसके उपरांत उसकी ललाई हटायी जाती है तभी उसे पकाने पर सुंगध आती है। ऐसा कोई यंत्र नहीं बनाया गया आज तक कि जिसके माध्यम से पहले ललाई हटायी जाये फिर छिलका हटे। उसी प्रकार दिगम्बर हुए बिना जो शेष ग्रंथियाँ हैं जो कि केवलज्ञान में बाधक हैं, यथाख्यात चारित्र में बाधक हैं, निकल नहीं सकती। बाहर से राग उत्पन्न करने वाली चीजों को जब तक नहीं हटायेंगे, नहीं छोड़ेंगे तब तक अन्दर का राग जा नहीं सकता। लड्डू हाथ में है, खाते भी जा रहे हैं और कह रहे हैं कि लड्डू के प्रति हमारा राग नहीं है तो ध्यान रखना कि गृहस्थावस्था में रहकर ऐसा हजार साल तक भी करो तो मुक्ति संभव नहीं है। पर का ग्रहण राग का प्रतीक है। न्यूनाधिकता होना बात अलग है लेकिन

राग को पैदा करने वाली चीजों का त्याग किया जाये। आज वृषभनाथ मुनिराज ने ऊपर का छिलका अर्थात् वस्त्राभूषण आदि छोड़ दिया। शरीर के प्रति निर्मम होकर अब अंदर की लालिमा को भी निकालेंगे और इसी कार्य के लिये उन्हें हजार साल की साधना करनी पड़ी।

एक साल नहीं, दो साल नहीं, हजार वर्ष तक ये तप चलेगा, साधना चलेगी। आपका ध्यान तो एक सैकेण्ड भी आत्मा में नहीं ठहरता और आप कहने लगते हैं कि महाराज! हमें मिलता ही नहीं आत्मा? कैसे मिले भइया? वर्षों की तपस्या के उपरान्त आत्म-साक्षात्कार होता है। वृषभनाथ मुनिराज को मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान तो जन्म से ही प्राप्त थे और दीक्षा लेते ही मनःपर्ययज्ञान भी प्राप्त हो गया। चौसठ ऋद्धियां होती हैं उनमें से एकमात्र केवलज्ञान को छोड़कर सभी उनको प्राप्त हो गयी हैं। फिर भी अभी हजार साल तक उन्हें छठे-सातवें गुणस्थान में झूलना होगा। प्रमत्त-अप्रमत्त दशा में रहना होगा। बार-बार छठे-सातवें गुणस्थान में झूलना होगा। प्रमत्त-अप्रमत्त दशा में रहना होगा। बार-बार छठे-सातवें में आने जाने का अर्थ यही है कि जरा देर ठहरकर बार-बार कषायों पर चोट करनी होती है। मैं शुद्ध हूँ, बुद्ध हूँ, मेरा किसी से नाता-रिश्ता नहीं है- ऐसी पवित्र भावना बार-बार भानी होती है और ध्यान रखना, गृहस्थ अवस्था में रहकर ऐसी भावना हजार साल भी भावो तो भी मुक्ति सम्भव नहीं है। यह कार्य तो मुनि बनने के उपरांत ही करना सार्थक है। जब तक परिव्राज अवस्था प्राप्त नहीं करोगे, दिगम्बरत्व को धारण नहीं करोगे तब तक केवलज्ञान की प्राप्ति सम्भव नहीं है। यही कारण है कि आज ऋषभनाथ ने दीक्षा ग्रहण की है। आज भगवान बनने की भूमिका, मुक्त होने की भूमिका बनाई है। वीतरागता को जीवन में प्रकट किया है जो हमारे लिये शरण योग्य है, चत्तारि शरणं पव्वज्जामि। अर्हन्त, सिद्ध, साधु और केवली भगवान द्वारा कहा गया धर्म- ये चारों ही हमारे लिये शरण लेने योग्य है।

समयसार कलश में श्री अमृतचन्द्रसूरि ने एक कारिका लिखी है उसी का पद्यानुवाद किया था-

पद-पद पर बहु पद मिलते हैं पर वे सब-पद पर-पद हैं।
सब-पद में बस पद है वह पद, सुखद निरापद निजपद है॥
जिसके सन्मुख सब पद दिखते अपद दलित-पद आपद हैं।
अतः स्वाद्य है पेय निजी-पद, सकल गुणों का आस्पद है॥१३८॥

दुनिया के जितने भी पद हैं जिन्हें प्राप्त करने की लालसा संसारी जीव को लगी हुई है वे सभी पद निज-पद से दूर ले जाने वाले पद हैं। निज-पद पर धूल डालने वाले, उसे छिपाने वाले, यदि कोई कारण हैं तो वे पर-पद ही हैं। जिनकी चमक-दमक देखकर आप मुग्ध हो जाते हैं और अनेक गुणों के भंडार-रूप आत्म-पद को, निज पद को नहीं समझ पाते; नहीं पा पाते हैं।

जो मार्ग आज वृषभनाथ ने चुना है वह मोक्ष-मार्ग ही ऐसा मार्ग है जहाँ किसी प्रकार का कंटक नही है, बाधायें नहीं है, व्याधियाँ नही हैं। बड़ा सरल मार्ग है। जहाँ अनेक मार्ग मिलते हों वहाँ भटकने की भी संभावना हो सकती है लेकिन ये मोक्षमार्ग ऐसा है कि जहाँ पर अनेक मार्गों का काम ही नहीं है। अपने को पर-पदार्थों से हटा लेने और एकाकी बना लेने का ही मार्ग है। जो निषेध को समझ लेता है, वह विधि को सहज स्वयं ही समझ लेता है। पर-पदार्थों को 'पर' जानकर स्वयं की ओर आना सहज हो जाता है। यद्यपि आत्मा साक्षात् हमें देखने में नहीं आती किन्तु आगम के माध्यम से आत्मानुभूति संभव हो जाती है। केवलज्ञान के माध्यम से आत्माओं ने आत्मा का स्वरूप जाना/समझा। जिसका कोई आकार-प्रकार नहीं है, जिसकी किसी अन्य पदार्थ से तुलना नहीं की जा सकती, इन्द्रियों के द्वारा जिसे ग्रहण नहीं किया जा सकता, ऐसी उस आत्मा को हम कैसे ग्रहण करें? तो आचार्य कहते हैं कि सीधा सा रास्ता है, कि जो आत्म-स्वरूप से भिन्न है उसे छोड़ो। पूर्व ज्ञात हो जाये तो पश्चिम दिशा किधर है-यह पूछने की आवश्यकता नहीं रह जाती। ऐसे ही मुक्ति क्या चीज है, यह पूछने की कोई आवश्यकता नहीं है। मुक्ति चाहते हो तो बंधन है उससे बचो, उसे छोड़ो। आजादी पहले नहीं मिलती किन्तु बंधन के अभाव होने के उपरांत मिलती है। बंधन के साथ यदि अनुभूति होगी तो वह मुक्ति की अनुभूति नहीं होगी, बंधन की ही अनुभूति होगी।

जो बंधन को बंधन समझ लेता है, दुःख का कारण जान लेता है और उससे बचने का प्रयास करता है वही आजाद हो पाता है। उसे ही मुक्ति मिलती है। ज्ञान होने के उपरांत उस रूप आचरण भी होना चाहिए तभी उस ज्ञान की सार्थकता है।

एक व्यक्ति ने पूछा कि महाराज! हम लोगों के ऊपर आपदायें क्यों आती हैं? ग्रहों का प्रभाव हम पर क्यों पड़ता है? तो मैंने कहा भइया! बात यह है कि आपके पास दसवां ग्रह परिग्रह हैं इसी कारण अन्य नौ ग्रहों का

प्रभाव भी आपके ऊपर खूब पड़ता है। जो परिग्रह का विमोचन करके अपनी आत्मा में रम गया, उसके ऊपर बाह्य पदार्थों का प्रभाव नहीं पड़ सकता। वे समझ गये और हँसने लगे। बोले महाराज! बात तो सही है। परिग्रह की परिभाषा ही सही है कि ''परि आसमन्तात् आत्मानं ग्रहणाति स परिग्रहः''। जो चारों ओर से आत्मा तो खींचता है, ग्रसित कर लेता है उसका नाम परिग्रह है। परिग्रह को आप नहीं खींचते बल्कि परिग्रह के माध्यम से आप ही खिंच जाते हैं। परिग्रह आपको निगल रहा है। परिग्रह को आप नहीं भोगते बल्कि परिग्रह के द्वारा आप ही भोगे जा रहे हैं। परिग्रह सेठ-साहूकार बन चुका है और आप उसके नौकर।

जिसके पास परिग्रह नहीं है, जिसने परिग्रह को छोड़ दिया है उसे कोई चिन्ता नहीं सताती। वह आनन्द की नींद लेता है। पर जिसके पास जितना ज्यादा परिग्रह है वह उतना ही बेचैन है। उसको न दिन में नींद है, न रात में। बड़े-बड़े धनी लोग अच्छे-अच्छे गद्दों पर भी रात भर सो नहीं पाते। उन्हें चिंता रहती है कि कहीं तिजोरी में बन्द धन-पैसा-सोना लुट न जाये। तिजोरी में बन्द सोना यद्यपि जड़ है, यही कारण है कि जड़/पुद्गल की सेवा में लगा हुआ वह स्वयं ही जड़ अर्थात् मूर्ख/अज्ञानी हो गया है। ज्ञानी तो वह है जिसको कषायों की आवश्यकता नहीं। जो परिग्रह का आश्रय नहीं लेता, वह तो मात्र अपनी आत्मा का ही आश्रय लेता है। यही कारण है कि वृषभनाथ मुनिराज ने सारे परिग्रह को छोड़ दिया और ज्ञानी होकर मात्र अपनी आत्मा के आश्रित हो गये हैं।

अध्यात्म-प्रेमी बंधुओं को समझना चाहिए कि सही रास्ता तो यही है। परिग्रह को जब तक पकड़ रखा है तब तक मुक्त होना संभव नहीं है। परिग्रह को छोड़े बिना ध्यान होना भी संभव नहीं है। आचार्य शुभचन्द्र स्वामी ने ज्ञानार्णव में कहा है कि-

अनिषिध्याक्षसंदोहं यः साक्षात् मोक्तुमिच्छति।
विदारयति दुर्बुद्धिः शिरसासमहीधरम् ॥20॥31॥

ध्यान के माध्यम से ही आत्मानुभति होती है। यदि कोई ध्यान को रत्नत्रय का आलंबन लिये बिना, दिगम्बर हुए बिना ही साधना चाहे तो ध्यान रखना वह मस्तक के बल पर पर्वत को तोड़ने का व्यर्थ प्रयास कर रहा है। ऐसा करने पर पर्वत तो फूटेगा नहीं, उसका सिर जरूर फूट जायेगा। इसलिए भइया! साधना का जो क्रम है, जो विधि बताई गयी है उसी के अनुसार करोगे तभी मुक्ति मिलेगी। जब दोषों को निकालोगे तब गुण प्रकट होंगे। गुण कहीं बाहर से नहीं आयेंगे, वे तो दोषों के हटते ही अपने आप प्रकट हो जायेंगे। गुणों में ही तो दोष

आये हैं, उन दोषों का अभाव होने पर गुणों का सद्भाव सहज ही हो जायेगा। स्वामी समन्तभद्राचार्य भगवान् की स्तुति करते हुए कहते हैं कि हे भगवन्! आप अठारह दोषों से रहित हैं इसलिए मैं आपको नमस्कार कर रहा हूँ।

बंधुओं! सोचो, जिस परिग्रह का आज वृषभदेव मुनिराज त्याग कर रहे हैं उसे ही आप अपनाते जा रहे हैं तो मुक्ति कैसे मिलेगी? आप ज्ञानी कैसे कहे जायेंगे? रागपूर्वक संसार को ही अपनाते जाने वाला ज्ञानी नहीं कहला सकता। ज्ञानी तो वही है जो भूतकाल में भोगे गये पदार्थों का स्मरण तक नहीं करता और वर्तमान में भोगों के प्रति हेयबुद्धि रखता है। समयसार जैसे महान् ग्रंथ में आचार्य कुंदकुंद स्वामी ने कहा है उसी का भावानुवाद-

ना भूत की स्मृति अनागत की अपेक्षा
भोगोपभोग मिलने पर भी उपेक्षा।।
ज्ञानी, जिन्हें विषय तो विष दीखते हैं
वैराग्य-पाठ उनसे हम सीखते हैं।। २२७।।

ऐसे ज्ञानी मुनिराज धन्य हैं जिनके दर्शन मात्र से संसारी प्राणी को वैराग्य का पाठ सीखने को मिलता है। यही ज्ञानी का लक्षण है। यही वीतराग सम्यग्दृष्टि का लक्षण है। स्व-समय का अनुभव करने वाला भी यही है।

परमट्ठो खलु समओ, सुद्धो जो केवली मुणी णाणी
तम्हिट्ठिदा सहावे, मुणिणा पावंति णिव्वाणं॥१४८॥

परमार्थ कहो, निश्चय कहो, समय कहो, केवली कहो या मुनि कहो, ज्ञानी कहो- यह सब एकार्थवाची हैं। अर्थात् ज्ञानी वही है जो समय अर्थात् आत्मा में निहित है, शुद्ध में निहित है, मुनिपने में निहित है। ऐसा ज्ञानी ही निर्वाण को प्राप्त कर सकता है और इसके अलावा अन्य कोई ज्ञानी नहीं है। आज तो विज्ञान का युग है, प्रत्येक व्यक्ति अपने आपको विज्ञानी मान रहा है लेकिन वास्तव में देखा जाये तो वह ज्ञानी नहीं है। भइया! भावों में ज्ञानीपना होना अलग बात है और मात्र नाम निक्षेप की अपेक्षा ज्ञानी होना अलग बात है। समयसार के अनुसार तो ज्ञानी पुरुष वही है जिसने बुद्धिपूर्वक विषयों का विमोचन कर दिया है, जो निष्परिग्रही है, जो अप्रमत्त है और अपनी आत्मा में लीन रहता है। विषयों के प्रति हेयबुद्धि का अर्थ ऐसा नहीं है कि जैसे आप लोग किसी के घर मेहमान बनकर जाते हैं तो भोजन करते समय यदि मिठाई परोसी जा रही हो तो आप, 'बस-बस! अब नहीं चाहिए', कहते जाते हैं और खाते भी जाते हैं। हेयबुद्धि तो वह है जो वर्तमान में मिली भोग सामग्री को भी छोड़ देता है। अतीत के भोगों की तो बात ही क्या?

भोग-पदार्थों को ग्रहण कर लेने के बाद जो यह कहता है कि ये तो पुद्गल हैं, उसे समयसार में ज्ञानी नहीं कहा गया। सोचो! जब पुद्गल को पुद्गल ने ही खाया तो थाली पर खाने के लिए बैठने की जरूरत क्या थी? और अगर निमन्त्रण देकर किसी ने आपको बुलाया और पेट भर नहीं खिलाया, आपके मन पसन्द नहीं खिलाया तो यह कहने की क्या आवश्यकता थी कि उनके यहाँ गये और उन्होंने ठीक से खिलाया भी नहीं। यह ज्ञानी -पना नहीं है। जहाँ राग के साथ पदार्थों का ग्रहण किया जा रहा हो वहाँ विषयों का ही पोषण होता है। हां जहाँ पर राग नहीं है वहाँ पर विषय-सामग्री होने पर भी उसे निर्विषयी कहा जायेगा। मुनि महाराज वीतरागी होकर पदार्थों का उपभोग करते हैं इसलिए वे भोक्ता नहीं कहलाते बल्कि ज्ञानी कहलाते हैं, निर्विषयी कहलाते हैं। सभी भोग्य पदार्थों का त्याग करने के उपरांत, पदार्थों के प्रति अनासक्त होकर मूलगुणों का पालन करते हुए आगम की आज्ञा के अनुसार वे पदार्थों का ग्रहण करते है इसलिये उन्हें ज्ञानी कहा गया है।

'पर' के प्रति राग का अभाव हो जाना ही 'स्व' की ओर आना है। 'पर' को 'पर' मानकर जब तक आप उसे नहीं छोड़ेंगे तब तक स्व-समय की प्राप्ति सम्भव नहीं है। स्व-समय का स्वाद तभी आयेगा जब 'पर' का विमोचन होगा। ऐसे स्व-समय को प्राप्त करने वाले ऋषभराज मुनिराज के चरणों में रागी भी नतमस्तक हो रहे हैं। आज तो वैराग्य का दिन है। तप का दिन है। त्याग का दिन है। मेरे पास कुण्डलपुर में यहाँ के कुछ लोग आये और कहा कि महाराज! पंचकल्याणक महोत्सव किशनगढ़ में होना है। आपकी उपस्थिति अनिवार्य है। उसके बिना काम नहीं चलेगा। आपको अवश्य जाना है। मैंने कहा भइया! आप ले जाना चाहो तो ऐसे मैं किसी के कहने में आने-जाने वाला नहीं हूँ! हां इतना जरूर तय कर लो कि अगर मैं आ भी जाऊँ तो आप क्या करेंगे? सिर्फ कार्यक्रम होंगे, सभी लोग लाभ लेंगे, यह तो ठीक है लेकिन आप क्या करेंगे? सिर्फ कार्यक्रम आयोजित करेंगे या अपनी भी कुछ फिकर करेंगे? हम वहां आयें या न भी आयें पर आपको जो करना हो वह अभी कर लो, उसमें देर मत करो। सारा महोत्सव त्याग का ही है। इसलिये त्याग के लिये देर करना ठीक नहीं। ऋषभनाथ मुनिराज तो मौन बैठे हैं। अपना कल्याण करने के लिये दीक्षा ले ली है। दूसरे की उन्हें फिकर भी नहीं करनी है। पर एक अनिवार्य के लिये तो स्वयं भगवान् की आज्ञा है कि वह उपदेश के माध्यम से लोगों को त्याग की प्ररेणा दें। दीक्षा के अवसर पर आप लोगों

को कुछ न कुछ त्याग तो अवश्य ही करना चाहिये। 'स्व' का आलंबन लेना ही जीवन है, 'पर' का आलंबन लेना, विषयों का आलंबन लेना मृत्यु की ओर बढ़ना है। इसलिये आप लोगों को विषयों से ऊपर उठकर निर्विषयी बनकर अपना जीवन बिताने का प्रयास करना चाहिए। अधिक नहीं तो कम से कम त्याग के भाव तो करना ही चाहिए कि हे भगवन्। मैं कब सर्व परिग्रह से मुक्त होकर अपनी आत्मा का अनुभव करूँ। इस जीवन में आप लोगों को वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से जो थोड़ी शक्ति मिली है और ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से जो थोड़ा ज्ञान प्राप्त हुआ है उसका सदुपयोग तो कर ही लेना चाहिए। सभी को शक्तितस्त्याग अर्थात् यथाशक्ति त्याग तो करना ही चाहिए।

दो प्रकार से व्रतों के ग्रहण की बात आचार्यों ने कही है -अणुव्रत और महाव्रत। अणुव्रतों का विस्तार भी बहुत लम्बा-चौड़ा है, जैसे एक रुपया को महाव्रत कहें तो एक पैसे से लेकर निन्यानवे पैसे तक सभी अणुव्रत रूप में कहे जायेंगे। व्रत कोई भी हो, छोटा नहीं होता। एक पैसे के बराबर भी यदि व्रत लिया जाये तो भी सार्थक है। व्रत-नियमों के संस्कार जीवन में डालते-डालते ही वह समय भी आ सकता है जबकि हम महाव्रतों को धारण करके स्व-समय को प्राप्त कर लें।

इस महान तप-कल्याण के दिन हम अधिक क्या कहें? हम तो यही भावना करते हैं कि हे भगवन्! हमें जो रास्ता मिला है वह निर्वाण होने तक छूटे नहीं। जो रेल हमने पकड़ी है वह एक-दो स्टेशन बीच में भले ही रुक जाये, धीरे-धीरे भले ही पहुँचाये, पर जीवन में मुक्ति मिलनी चाहिये। भगवान के जीवन को आदर्श बनाकर, उनके जीवन का आदर्श सामने रखकर हम भी अपने जीवन को सफल बनायें। कुंदकुंद स्वामी जैसे महान आचार्यों के ग्रंथों के माध्यम से हमारी आंखें खुल गयी। हमें ज्ञात हो गया कि क्या कर्म है? क्या संसार है और क्या मुक्ति है? साथ ही आचार्य ज्ञानसागरजी जो मेरे गुरु महाराज थे (आप लोगों को उनका स्मरण तो होगा ही क्योंकि उनका अन्तिम समय अजमेर में ही बीता) आशीर्वाद से मुझे यह ज्ञान और वैराग्य प्राप्त हुआ। उन सभी महान आत्माओं का स्मरण हमेशा बना रहे इसी भावना से इन पंक्तियों द्वारा उनका स्मरण करता हूं-

कुन्दकुन्द को नित नमूँ, हृदय कुन्द खिल जाय।
परम-सुगन्धित महक में, जीवन मम घुल जाय।

□□

ज्ञानः आत्मोपलब्धि का सोपान

आज मुनिराज ऋषभनाथ भगवान बनने का पुरुषार्थ कर रहे हैं। एक भक्त की तरह भगवान की भक्ति में लीन होकर आत्मा का अनुभव कर रहे हैं। संसार क्या है- इसके चिंतन की अब उन्हें आवश्यकता नहीं है किन्तु एक मात्र स्व-समय की प्राप्ति की लगन लगी हुई है। 'समय' का अर्थ यहाँ आत्मा से है। इस आत्मा की प्राप्ति के लिये ही साधना चल रही है।

'समय' की व्याख्या आचार्य कुंदकुंद स्वामी ने की है जो हमें उपलब्ध है लेकिन सभी को उसका बोध नहीं हो पा रहा है। इसलिये 'समय' की व्याख्या संक्षेप में यहां आज करूँगा। समीचीनरूप से जो अपनी निधि को प्राप्त कर रहा है, जो अपने आपको संभालने में लगा हुआ है तथा बहिर्मुखी दृष्टि को जिसने त्याग दिया है, ऐसी समय की व्याख्या प्रत्येक द्रव्य पर घटित हो जाती है किन्तु यहाँ पर विशेष रूप से मोक्षमार्ग में उपादेयभूत जो समय है वह स्व-समय है। जो अपने गुण, अपनी पर्याय और अपनी सत्ता के साथ एकता धारण करते हुए बर्हिमुखी दृष्टि को हटाकर उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप अपनी आत्मा में लीन है उसका नाम 'स्व-समय' है। अपने को सही-सही जानना, अपने में रहना और अपनी सुरक्षा करते रहना यही स्व-समय है। यहाँ पंडाल में कभी-कभी देखता हूँ कि स्वयंसेवकों की संख्या जनता से भी अधिक हो जाती है और स्वयंसेवकों में ही अव्यवस्था फैल जाती है। स्वयंसेवक का अर्थ अगर आप गहराई से समझें तो स्वयंसेवक कहो या कि स्व-समय कहो-एक ही बात है। अपने आपकी जो सेवा करता है वही वास्तविक स्वयंसेवक हैं

आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने सवार्थसिद्धि ग्रन्थ का प्रारम्भ करते हुए भव्य जीव के लिए एक विशेषण दिया है- स्व-हितं उपलिप्सुः- जो अपने हित को चाहता है। अपना हित किसमें है- यह भलीभांति जानता है- वही भव्य है। स्व-पर कल्याण करने की दृष्टि तो अच्छी है परन्तु पर के कल्याण में ही लग जाना और स्व को भूल जाना- वह उचित नहीं है। स्व-हित की इच्छा होना ही वास्तविक धर्मानुराग है, वास्तविक अनुकम्पा है, दया है और

वास्तविक जैनत्व भी वही है। अपने ऊपर कषाय रूपी वैभाविक भावों की जो सत्ता चल रही है, जो विकारी भावों का प्रभाव पड़ रहा है उसको मिटाने की जिज्ञासा जिसे हो, वह भव्य है। इसके अलावा जो भी है उन्हें सज्जन भले ही कह दें, परन्तु निकट भव्य नहीं कह सकते।

भव्य का अर्थ होता है होनहार! 'भवितुं योग्यः भव्यः' - जो होने योग्य हो। होनहार के लक्षण अलग ही होते हैं जिन्हें देखकर ही होनहार कहा जाता है। आप लोगों के घर में जब कोई बच्चा पैदा होता है तो आप उसके कुछ विशेष लक्षणों को देखकर उसे होनहार कहते हैं। मान लीजिये दो बच्चे हैं, एक शैंतानी करता है तो उसे शैतान कहते हैं और यदि शांत रहता है तो होनहार निकलेगा- ऐसा कहते हैं। जो होने की योग्यता रखता है सैद्धांतिक भाषा में उसे ही भव्य कहते हैं। होने की योग्यता का अर्थ यही नहीं है कि वह बड़ा होगा। बड़े तो सभी होते हैं। वय के अनुसार बढ़ने का अर्थ होनहार नहीं है। होनहार तो आप उसे मानते हैं जिसमें आपकी इज्जत और घर की संस्कृति, परम्परा की सुरक्षा के लक्षण दिखाई देते हैं। हांलाकि आप पालन-पोषण दोनों बच्चों का समान रूप से करेंगे/करते हैं- यह बात अलग है लेकिन भीतर ही भीतर उस होनहार बालक के प्रति आपके मन में प्रेम अधिक रहता है। गुरु का शिष्य के प्रति प्रेम भी इसी प्रकार हुआ करता है। एक कक्षा में बहुत से विद्यार्थी होते हैं, गुरु सभी की एक सी शिक्षा देते हैं लेकिन जो गुणवान हैं, होनहार हैं उनके प्रति गुरुओं के मन में सहज ही प्रमोद भाव आता है।

एक और विशेषण आता है कि वह 'प्रज्ञावान' भी हो। सो ठीक ही है। बुद्धिमान भी होना चाहिए। लेकिन ऐसी बुद्धिमानी किसी काम की कि अपना हित भी न कर सके। इसीलिये बुद्धिमान होना कोई बड़ी बात नहीं है। वह तो ज्ञान की परिणति है। कम या ज्यादा सभी के पास होती है लेकिन स्व-कल्याण की मुख्यता होनी चाहिए। भक्तामर स्तोत्र की- 'आलंबनं भव जले पततां जनानाम्-' ये पंक्ति प्रत्येक भाई के मुख से सुनने को मिल जाती है। इसका अर्थ यही है कि जिन्होंने अपना कल्याण कर लिया उनके नाम का स्मरण/आलंबन लेने वालों की संख्या बहुत है। जो अपना कल्याण कर लेता है वही पर का कल्याण कर सकता है। मैं पर-कल्याण का निषेध नहीं कर रहा, लेकिन कहना इतना ही है कि भाई! पर-कल्याण में लग जाना ठीक नहीं है। जब मैं विद्यार्थी था तो परीक्षा भवन में सभी विद्यार्थियों के

साथ परीक्षा पेपर हल कर रहा था और समीप बैठा हुआ एक साथी बार-बार कुछ प्रश्नों के उत्तर मुझ से पूछ रहा था। अब परीक्षा भवन में तो ऐसा है कि जो सही उत्तर लिखेगा उसे ही नम्बर मिलेंगे। जो अपने उत्तर न लिखकर मात्र औरों को उत्तर लिखाने में लगा रहेगा वह परीक्षा में पास नहीं हो सकेगा। इसलिये परहित कितना, कब और कैसा होना चाहिए यह भी समझना हमें जरूरी है। मेरे मन में उसे उत्तर लिखकर देने का भाव तो आया लेकिन घड़ी की तरफ देखा तो सिर्फ पन्द्रह मिनिट शेष थे, एक प्रश्न का उत्तर लिखना अभी मेरे लिये शेष था, ऐसी स्थिति में अगर 'पर' की ओर देखता तो 'स्व' के उत्तर भी नहीं लिख पाता। आचार्यों ने कहा है कि स्वहित करो, साथ ही परहित भी करो लेकिन स्वहित पहले अच्छी तरह करो। इसलिये भाव होते हुए भी पहले अपने हित की चिंता मैंने की। यह बात आपको कठोर जान पड़ेगी लेकिन गहराई से विचार करेंगे तो कठोर नहीं लगेगी।

जैसे माता-पिता कई बार अपने बच्चों के प्रति कठोर हो जाते हैं। जब वह शैतानी करता है, पैसे चुराकर घर से भागकर घूमता रहता है, कुसंगति में पड़कर पैसा बरबाद करता है तो उसे वे डांटते, मारते-पीटते भी हैं और घर से बाहर निकालने की धमकी भी देते हैं, पर उनका मन भीतर से कठोर नहीं होता। यदि बेटा घर छोड़कर जाने की बात करता है तो वही माता-पिता रोने लग जाते हैं, उसे मनाते भी हैं। यही बात हमारे पूर्वाचार्यों ने मोक्षमार्ग में भी ध्यान में रखी है। हित की दृष्टि से कहीं-कहीं कड़ी बात भी की है। मृदुता और कठोरता दोनों एक ही वस्तु के दो पहलू हैं। आप नवनीत की मृदुता से परिचित हैं और जानते हैं कि मृदु से मृदु पदार्थ यदि कोई है तो वह नवनीत है। वह कठोर से कठोर भी है क्योंकि यदि नवनीत को तलवार चाकू से काटो तो भी नहीं काट सकते। जो नहीं कटे वही तो व्यवहार में कठोर माना जाता है। दूसरी बात यह भी है कि यदि नवनीत को जरा सा अग्नि का संयोग मिले तो वह पिघल जाता है। इसी प्रकार आचार्यों की वाणी भी नवनीत के समान हैं जिसमें कभी कठोरता भले ही आ जाती हो लेकिन हृदय में तो उनके मृदुता ही रहती है।

जो डाक्टर शल्य-चिकित्सा करते हैं और जो लोग शल्य-चिकित्सा करवाते हैं, वे जानते हैं कि पहले घाव को साफ करना होता है फिर आवश्यक होने पर काटा भी जाता है तभी मरहम-पट्टी होती है। घाव पर सीधे दवाई नहीं लगाते, उसे साफ-सुथरा करते हैं जिसमें पीड़ा भी होती है लेकिन भाव तो

घाव ठीक करने का होता है। अर्थात् सभी जगह निग्रह और अनुग्रह दोनों ही हैं। अपराध करने पर अपराधी को दंड भी दिया जाता है लेकिन वह दंड उसे अपराध-भावना से मुक्त करने के लिए है, शुद्धि के लिये है।

खेल खेलता कौतुक से भी रुचि ले अपने चिंतन में,
पर जा पर कर "निजानुभव कर" घड़ी-घड़ी मत रच तन में।
फलतः पल में परमपूत को द्युतिमय निज को पायेगा,
देह-नेह तज, सजधज निज को, निज के निज घर जायेगा।।[1]

जिस प्रकार आर्थिक लाभ के लिये आप लोग जैसे-तैसे भी मेहनत-मजदूरी करके लेकिन न्याय-नीति पूर्वक धन का अर्जन करते हैं उसी प्रकार आचार्य कहते हैं कि मनुष्य जीवन पाकर आत्मा के बारे में थोड़ा चिंतन तो जरूर करे। भले मेहनत क्यों न करनी पड़े, कष्ट भी क्यों न सहने पड़े, पर आत्मा की प्राप्ति के लिए कदम तो अवश्य बढ़ाओ। कई लोग कह देते हैं महाराज! सामायिक के लिये आसन लगाकर जब बैठते हैं तो घुटनों में दर्द होने लगता है, अब सामायिक कैसे करें? तो हम यही कहते हैं कि भइया! सांसारिक कार्य करने के लिए दर्द होने पर भी कितना परिश्रम करते हो, उतना/वैसा ही मोक्ष-मार्ग में भी करो। कम से कम अड़तालीस मिनिट सामायिक करने के लिए एक आसन पर तो बैठो। जिस प्रकार हलुआ बनाने में भले ही दो-चार घंटे लग जाते हैं, मेहनत भी होती है लेकिन खाने में तो थोड़ा सा समय लगता है और तृप्ति भी मिलती है, इसी प्रकार एक अंतर्मुहूर्त तक एकाग्र चित्त होकर ध्यान करने से अनादिकाल से अप्राप्त आत्मानुभूति सम्भव है। भूमिका होनी चाहिए। और दूसरी बात, उस ध्यान के काल में यदि मरण भी हो जाता है तो डरने की बात नहीं है, मरण तो शरीर का होता है, आत्मा नहीं मरती। आत्मा तो ध्यान करने से तरती है।

आचार्यों ने कहा कि अपने कल्याण के लिए आत्मानुभूति होना आवश्यक है। शुद्धोपयोग होना आवश्यक है। इतना जरूर है कि जब शुद्धोपयोग से च्युत होकर शुभोपयोग की दशा में आ गये हो तो पर-कल्याण हो सकता है लेकिन साथ ही साथ कर्मबन्ध भी होगा। भैया! ऐसी कौन सी दुकान है, ऐसा कौन सा व्यापार है जिसमें कोई व्यक्ति स्वयं तो घाटे में रहे और दूसरों को मुनाफा देता रहे। ऐसा कोई भी नहीं करता। सभी अपने हित की चिंता करते हैं। और जिसने अपना हित किया है वही दूसरे का भी हित कर सकता है।

1 कलशागीत-23

जिसने आज तक अपने हित की बात ही नहीं सोची वह दूसरे के कल्याण की कल्पना भी नहीं कर सकता। भिखारी दूसरे को भीख नहीं दे सकता। इसलिये अच्छा तो यही है कि पहले स्वयं का हित करो और दूसरे का अहित मत सोचो। सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की शरण में जाकर आत्मतत्त्व को पाने के लिए अपनी ओर कदम बढ़ाओ।

एक समय की बात है, जंगल में एक व्यक्ति भटक गया। घना जंगल था, जहां पर सूर्य की किरणें भी प्रवेश नहीं कर पाती थी। दिन में और रात में भी अंधकार रहता था। एक-दो दिन यूँ ही बीत गये पर कोई दूसरा व्यक्ति रास्ता बताने वाला नहीं मिला। तीसरे दिन अचानक एक व्यक्ति दूर से आता हुआ दिखाई दिया। भटका हुआ व्यक्ति विचार करने लगा कि चलो अच्छा हुआ, तीसरे दिन कोई तो मिला। भागता हुआ वह दूसरे व्यक्ति के चरणों में आकर गिर गया और कहने लगा कि बहुत अच्छा हुआ जो आप मिल गये। यहां से निकलने का कोई रास्ता हो तो मुझे बताओ। मैं तीन दिन से भटक रहा हूँ। दूसरा व्यक्ति कहने लगा -भाई! क्षमा करो, मैं क्या बताऊं। मुझे भी भटकते हुए पांच दिन हो गये हैं। मैं भी इसी खोज में था कि कोई साथी मिले तो निर्वाह हो जाये। बस! ऐसी ही स्थिति सभी संसारी प्राणियों की हो रही है। सब भटके हुए लोग एक दूसरे की शरण खोज रहे हैं। भगवान की शरण में कोई नहीं जा रहा। वे दोनों भटके हुए व्यक्ति एक दूसरे के साथ मजे से रहने लगते हैं। घूमने-फिरने लगते हैं। धीरे-धीरे उनकी संख्या बढ़ने लगती है। शहर बन जाता है। अब उन्हें कोई भटका हुआ नहीं मानता। वे भटक गये थे- यह बात उन्हें स्वयं भी स्मृति में नहीं रहती। जैसे दो पागल मिल जाते हैं तो अपने आप को होशियार मानने लगते हैं और शेष सभी उनकी दृष्टि में पागल नजर आते हैं। चार पागल लोग मिलकर, जो ठीक है उसे भी पागल बना लेते हैं। वे उसे समझाते हैं कि व्यर्थ भटकते क्यों हो। हमारे साथ आ जाओ, तुम अकेले हो, क्या तुम्हारा रास्ता ठीक हो सकता है। हम चार है, हम ही ठीक हैं। इस तरह भटकने वालों की संख्या बढ़ती ही जाती है। लेकिन जो समझदार हैं जिन्हें स्व-कल्याण की इच्छा है वे ऐसी किसी शरण में नहीं जाते। वे तो सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की शरण को नहीं छोड़ते क्योंकि इन्हीं के माध्यम से हमारी अनादिकालीन भटकन समाप्त हो सकती है।

बहुमत कहाँ नहीं होता? नरक में नारकियों का बहुमत है और स्वर्ग में देवों का बहुमत है, पागलों का भी बहुमत होता है। पागलखाने में पागलों की आपस

में तुलना की जाती है। कोई कम पागल है और कोई ज्यादा पागल, लेकिन पागल तो सभी है। ऐसे बहुमत की सत्य के लिये कोई आवश्यकता नहीं है। सच्चे पथ के लिए दूसरे से तुलना करने की भी कोई आवश्यकता नहीं है। सत्य एक ही बहुत होता है। एक मात्र सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की शरण की पर्याप्त है भले ही बहुमत हो, या न हो। जो स्वहित चाहते हैं वे ऐसे बहुमत/जमघट से प्रभावित नहीं होते। अपने कल्याण में लगे रहते हैं। संसार, शरीर और भोगों से विरक्त होकर जीवन जीते हैं।

देह का नेह अर्थात् शरीर के प्रति मोह ही सबसे खतरनाक है। हमें इस शरीर का ज्ञान पहले होता है फिर शरीर के माध्यम से ही अन्य पर-पदार्थों का ज्ञान होता है। शरीर के पोषण के लिये ही संसार में सारे आविष्कार हुए हैं। इसलिये आचार्यों ने कहा है कि एक बार जीवन में शरीर पड़ौसी बन जाये, शरीर के प्रति मोह की दीवार टूट जाये तो एक अन्तर्मुहूर्त्त में आत्मानुभूति संभव है। हमारे लिए इस भौतिक जगत से हटाकर आत्मानुभति का उपाय बतलाने वाले आविष्कारक कुन्दकुन्द ही तो हैं। मोह रूपी मदिरा पीकर ही व्यक्ति अनादिकाल से अपने स्वरूप को जान नहीं पा रहा है। इन्द्रिय-ज्ञान के माध्यम से इसे जाना भी नहीं जा सकता।

इन्द्रियों का ज्ञान नियत और सीमित है, काल भी सीमित है। घड़ी को देखकर आपको घड़ी का व्यवहार ज्ञान हुआ, यदि यह घड़ी दूर रखी हो तो आप देख नहीं सकते। ऐसे ही यदि उस घड़ी को आंखों से चिपका लेंगे तो भी दिखाई नहीं देगा। इससे सिद्ध होता है कि इन्द्रिय-ज्ञान सीमित है। इस इन्द्रिय-ज्ञान पर अभिमान नहीं करना चाहिए। ज्ञेय पदार्थों को जानने की क्षमता इन्द्रिय-ज्ञान के पास सीमित है, मर्यादित है। ये चर्म-चक्षु ऐसे हैं कि अपने आपको ही नहीं देख सकते। आपकी आंख में कुछ चीज गिर जाये तो किसी दूसरे से निकलवाना पड़ता है। अपनी ही एक आंख के माध्यम से दूसरी आंख में गिरी हुई मिट्टी आदि नहीं दिखती। आप दुनिया को तो इन आंखों से देख सकते हैं लेकिन अपने को नहीं देख पाते। अपने को देखने के लिये दो आंखें बेकार हैं। ठीक भी है, जो आंखें अपने को नहीं देख पाती, वे किस काम की। इसलिये आचार्यों ने कहा है कि दया में निष्ठा लाओ, अहिंसा का पालन करो और इन्द्रियों का दमन करो। इन्द्रिय-ज्ञान को समाप्त कर दो अर्थात् बहिर्दृष्टि को समाप्त करके अंदर की ओर देखो।

दया-दम-त्यागसमाधिनिष्ठं, नय-प्रमाणप्रकृताञ्जसार्थम्।
अघृष्यमन्यैरखिलैः प्रवादैः जिन त्वदीयं मतमद्वितीयम्॥[1]

इसी बात को समझाते हुए संवर के प्रकरण में आचार्य उमास्वामी भी कहते हैं- ''स गुप्ति-समिति-धर्मानुप्रेक्षा-परीषहजयचारित्रैः।'' संवर को प्राप्त करने के लिये सर्व प्रथम महाव्रतों को अंगीकार करना चाहिए। चारित्र धारण करना चाहिए। चारित्र धारण करने के उपरांत परीषहजय को नहीं भूलना चाहिए। परीषह-जय बारह भावनाओं के चिंतवन/मनन द्वारा कर लिया जायेगा। बारह भावना किसलिये हैं, तो कहा कि दस-लक्षण-धर्म प्राप्त करने के लिये। दसलक्षण-धर्म किसलिए हैं, हमारी समीचीन प्रवृत्ति हो इसलिए अर्थात् समिति के लिए और समीचीन प्रवृत्ति गुप्ति की ओर ले जाने के लिए है और गुप्ति साक्षात् संवर, निर्जरा और मोक्ष के लिए साधन है। सब एक दूसरे के लिए पूरक बनते चले जाते हैं। इसी प्रकार समाधि के लिये दया और दया के लिये इन्द्रिय-दमन और इन्द्रिय-दमन के लिये त्याग जरूरी है।

जो व्यक्ति इंद्रियों का दास हो जायेगा, वह हेय-उपादेय को नहीं जान पायेगा। ऐसी स्थिति में बिना हेय-उपादेय के ज्ञान के वह हेय को, दोष को कैसे छोड़ पायेगा? इसलिये शरीर को पड़ौसी बनाओ, यह कहा गया। शरीर में स्थित इन्द्रियों के माध्यम से ही विषयों का संग्रह होता है और विषयों का संग्रह जहां होता है वहीं मूर्च्छा आती है और कर्म बंध जाते हैं। कर्मबन्ध होने से ही गति-आगति होती है। संसार में भटकना होता है। पुनः शरीर और इन्द्रियाँ मिलती है। इन इन्द्रिय रूपी खिड़कियों के माध्यम से विषयरूपी हवा आने लगती है। इन्द्रिय-विषयों के ग्रहण होते रहने से कषाय जागृत हो जाती है। कषायों के माध्यम से पुनः बन्ध हो जाता है और संसारी जीव इस तरह जंजाल में फंसता ही जाता है। बिना इन्द्रिय-दमन के मात्र चर्चा कर लेने से समाधि का द्वार खुल नहीं सकता। एक मक्खी आकर शरीर पर बैठ जाती है तो आप उसे उड़ाने/हटाने की चेष्टा करते हैं या फिर मच्छरदानी का इन्तजाम करते हैं। ऐसे वातानुकूल भवन में बैठकर समाधि की चर्चा भले ही हो जाये लेकिन समाधि नहीं हो सकती।

समाधि प्राप्त करने के लिए तो ऋषभनाथ भगवान के द्वारा बताये गये मार्ग का अनुसरण करना होगा। समाधि के लिए दया, दम और त्याग को अपनाना होगा। इसके बिना कोई सीधा और छोटा रास्ता नहीं है। यदि इसके बिना समाधि प्राप्त करने के लिए कोई शार्टकट ढूँढने जाओगे तो समाधि के बदले आधि-व्याधियों

1. युक्त्यानुशासन-आचार्य समन्तभद्रस्वामीकृत, 6

में ही उलझ जाओगे। समाधि कोई हाथ में लाकर रख देने की चीज नहीं है; वह तो साधनों के द्वारा ही मिल सकती है। जितना दया का पालन करेंगे, जितना इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करेंगे, कषायों का त्याग करेंगे उतना ही समाधि के निकट पहुंचते जायेंगे। समाधि के द्वार पर लगे तालों को खोलने के लिये इन्हीं चाबियों की जरूरत है। बंधुओं! पुरुषार्थ करो। आचार्य कुन्दकुन्द देव ने कहा है कि यदि दुःख से मुक्ति चाहते हो तो श्रमणता अंगीकार करो। श्रमण हुये बिना आत्मानुभूति नहीं हो सकेगी। प्रवचनसार की चूलिका में आचार्य स्वयं कहते हैं कि आत्मानुभूति के लिये पंचाचारों का होना अनिवार्य है और पंचाचार का सीधा सा अर्थ है कि पांच पापों को मन, वचन, काय से छोड़ना होगा। महाव्रती ही पंचाचार का पालन करता है। आचार्य पंचाचारों को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि 'हे दर्शनाचार, हे ज्ञानाचार, हे चारित्राचार, हे तपाचार और हे वीर्याचार-तुम्हारे बिना स्वात्मानुभूति संभव नहीं है और स्वात्मानुभूति के बिना केवलज्ञान नहीं हो सकता, इसलिए मैं तुम्हें तब तक अपनाता हूँ जब तक मुझे केवलज्ञान नहीं हो जाता, मुक्ति नहीं मिल जाती।' ऐसी स्थिति में पंचाचार को अपनाना अनिवार्य ही है क्योंकि कारण के बिना कार्य को साधा नहीं जा सकता। ये पंचाचार ही शरण तभी तक है जबतक कि शद्धात्मा की प्राप्ति नहीं हो जाती है। उद्देश्य शुद्धात्मा की प्राप्ति का होना चाहिए। जो कोई अभव्य मिथ्यादृष्टि इन्हें धारण करता भी है तो मात्र बाह्य में धारण करता है, इसलिए उसे शुद्धात्मा की प्राप्ति नहीं हो पाती। लेकिन जो सम्यग्दृष्टि होता है वह इन पंचाचारों को बाह्य और अन्तरंग दोनों तरह से धारण करके शुद्धात्मा को प्राप्त कर लेता है।

इसी बात को समझाते हुए उपसंहार के रूप में रत्नकरण्ड श्रावकाचार की एक कारिका कहता हूँ-

पापमरातिर्धर्मो बंधुर्जीवस्य चेति निश्चिन्वन्
समयं यदि जानीते श्रेयो ज्ञाता ध्रुवं भवति॥148॥

इस जीव का बैरी पाप है और धर्म, बंधु है। ऐसा दृढ़ निश्चय करता हुआ जो अपने आपको आत्मा को जानता है वही अपने कल्याण को जानने वाला है। वहीं ज्ञानी है। ग्रन्थ तो रत्नकरण्ड श्रावकाचार है लेकिन बात ज्ञानी की है। ध्यान रहे बंधुओं! लक्ष्य तो सभी का आत्मानुभूति ही है। परन्तु पात्रों को ध्यान में रखकर भिन्न-भिन्न शैली में भिन्न-भिन्न अनुयोगों के माध्यम से आचार्यों ने बात कही है ताकि सभी धीरे-धीरे सही रास्ते पर चलकर अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लें।

संसार शत्रु नहीं है, पाप ही शत्रु है। और पाप जिस आत्मा में उत्पन्न

होता है वही आत्मा चाहे तो उस पाप को निकाल भी सकती है। जो पाप का तो आलिंगन करे और धर्म को हेय समझे उसकी प्रज्ञा की कोई कीमत नहीं है। स्वहित करने वालों के लिये पाप से ही लड़ना होगा और धर्म को, रत्नत्रय को, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को अपनाना होगा। जिसने इस बात को जान लिया, मान लिया और इसके अनुरूप आचरण को अपना लिया, वही ज्ञाता है।

आज हमारा सौभाग्य है कि समयसार की गूढ़ बातों को समझने के लिये जयसेन स्वामी की तात्पर्यवृत्ति टीका उपलब्ध है। मुझे तो संस्कृत एवं प्राकृत भाषा भी नहीं आती थी लेकिन आचार्य महाराज गुरुवर श्री ज्ञानसागरजी ने मुझे सभी बातों का धीरे-धीरे ज्ञान कराया। वैसे आप लोग तो उनसे बहुत पहले से परिचित रहे। इस अपेक्षा आप हमसे भी सीनियर हैं। हो सकता है आप मेरे से भी ज्यादा ज्ञान रखते हो परन्तु मुझे तो आचार्य महाराज का आशीर्वाद प्राप्त हुआ, उनकी साक्षात् प्रेरणा मिली। शिक्षा, दीक्षा सभी उन्हीं के माध्यम से हुई। इतनी सरल भाषा में अध्यात्म की व्याख्या मैंने कहीं नहीं सुनी, हिंदी में जो आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज ने समयसार की व्याख्या की है, उनका उपकार मेरे ऊपर आचार्य कुंदकुंद के ही समान है। आचार्य महाराज के आशीर्वाद से, उन्हीं की साक्षात् प्रेरणा से, आज मैं कुन्दकुन्दाचार्य देव से साक्षात् बात कर पा रहा हूँ। अमृतचन्द सूरी की आत्मख्याति जैसे जटिलतम साहित्य को देखने-समझने की क्षमता पा सका हूँ तो जयसेन आचार्य के छिले हुए केले के समान सरलतम व्याख्यान के माध्यम से अध्यात्मरूपी भूख मिटा रहा हूँ और आत्मानुभूति को प्राप्त करने के लिए प्रयासरत रहता हूँ किन्तु बड़े दुःख की बात है कि आप लोग अभी तक उसे नहीं चख पाये, भूखे ही बैठे हुए हैं। आत्मानुभूति शब्दों में कहने की वस्तु नहीं है। वह तो मात्र संवेदनीय है। वे मुमुक्षु थे और हमारे लिये मोक्षमार्ग के प्रदर्शन हेतु नेता थे। आज से करीब छह वर्ष पहले उन्होंने समाधि/सल्लेखना पूर्वक अपने पार्थिव शरीर को छोड़ा था। आचार्य कुंदकुंद स्वामी को, अमृतचन्द्राचार्य को और जयसेनाचार्यका स्मृति में लाते हुए आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज को इस काव्य के माध्यम से श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ-

तरणि ज्ञानसागर गुरो, तारो मुझे ऋषीश।
करुणा-कर करुणा करो, कर से दो आशीष॥

□□

ज्ञान कल्याणक

तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः।[1]
दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र॥1॥

कल ऋषभनाथ मुनिराज ने जो छोड़ने योग्य पदार्थ थे उन्हें छोड़ दिया और जो साधना के माध्यम से छूटने वाले हैं उनको हटाने के लिए साधना में रत हुए हैं। जो ग्रंथियां शेष रह गयी हैं, जो अंदर की निधि को बाहर प्रकट नहीं होने दे रही हैं, उन ग्रन्थियों को तप के द्वारा हटाने में लगे हैं। आप लोग अपनी महत्वपूर्ण मणियों को तिजोरी में बन्द करके रखते हैं जिस कारण बाहर से देखने पर ज्ञान नहीं हो पाता कि इसमें बहुमूल्य रत्न रखे हैं। ऐसे ही आत्मा के ऊपर आवरण पड़ा हुआ है जिससे वह अपने वास्तविक स्वरूप में प्रकट नहीं हो पाती। इतना ही नहीं, आपकी उस मणि को तिजोरी में रखने के कई स्थान होते हैं। दरवाजा यदि खुल भी जाये तो भी मणियां चोर के हाथ में न आ पायें इसलिए उसे एक छोटी-सी डिबिया में बंद करके मखमल लगाकर कागज में लपेटकर रखा जाता है। तिज़ोरी में भी एक के बाद एक कई खंड होते हैं। छोटी-छोटी अलमारियां होती हैं जिनके अलग दरवाजे खुलते हैं। जब तक तिजोरी के दरवाजे, आलमारी, डिबिया और कागज की पुड़िया नहीं खुलेगी तब तक मणियों को हाथ में लेकर उसकी प्रतीति नहीं हो सकती अर्थात् आवरण कोई भी हो, जब तक आवरण रहेगा तब तक वस्तु का ठीक-ठीक अनुभवन नहीं कर सकते हैं। ऋषभनाथ मुनिराज ने जो बाह्य ग्रन्थियां थी वे तो खोल दी हैं परन्तु इसके उपरांत भी ऐसी आंतरिक ग्रन्थियां शेष हैं जिनको हटाने के लिये साधना की जरूरत है। आज वे उसी साधना में लीन हुए हैं।

आप लोग थोड़े समय स्वाध्याय करके ही अपने आपको आत्मानुभवी मानने लगते हैं, पर सोचो अस्सी वर्ष की आयु में आप क्या ऐसा और इतना अनुभव कर सके होंगे जो तपस्या में लीन मुनिराज ऋषभनाथ प्रतिक्षण कर रहे हैं। उसका यह तप हजार वर्ष तक चलेगा और हजार वर्ष वे यूँ ही व्यर्थ में व्यतीत नहीं करते बल्कि बारह प्रकार के तपों को अंगीकार करके

1. पुरुषार्थ सिद्धयु पाय-1

महाव्रतों के साथ व्यतीत करते हैं। गहरे आत्मज्ञान में डूबकर वे धीरे-धीरे ज्ञान-ज्योति के ऊपर से आवरण हटाने में लगे हुए हैं। यह कार्य इतना आसान नहीं है जितना आप लोग समझ रहे हैं। जब कुल्हाड़े से पेड़ की डाल पर प्रहार किया जाता है तो पहली बार में तो मात्र छिलका ही हटता है। उसके मध्य में रहने वाले घनीभूत पदार्थ पर बार-बार और तेजी से प्रहार करने पर ही पेड़ से लकड़ी टूट पाती है। प्रहार करने वाले के हाथ झनझना जाते हैं। बड़ी मेहनत करनी पड़ती है। इसी प्रकार आत्मा के भीतर जो अनादिकालीन कषाय घनीभूत होकर बैठ गयी है उसे निकालने के लिये वीतरागता रूपी पैनी छैनी चाहिए। सूक्ष्म ग्रन्थियां खोलना उतना ही कठिन कार्य है जितना कि बाल/केश में पड़ी गांठ को खोलना। रस्सी के अंदर यदि गांठ पड़ जाये तो आप जल्दी खोल सकते हैं, धागे में पड़ी गांठ खोलना उससे भी कठिन है लेकिन बाल में पड़ी गांठ को खोलना तो और भी कठिन है। ऐसी ही सूक्ष्म ग्रन्थियों को खोलने में इन्हें हजार वर्ष लग गये किन्तु वे ग्रन्थियां अभी पूरी नहीं खुलीं। यह भी ध्यान रहे कि इनकी ग्रन्थियां खुलने पर पुनः वापिस पड़ती नहीं है क्योंकि बाल की ग्रन्थि सुलझाना जितना कठिन है वैसे ही बालों में ग्रंथि पड़ना भी।

बहती रहती कषाय नाली शांति सुधा भी झरती है,
भव की पीड़ा वहीं प्यार कर मुक्ति रमा मन हरती है।
सकल लोक भी आलोकित है शुचिमय चिन्मय लीला है,
अद्‌भुत से अद्‌भुततम महिमा आतम की जयशीला है।।[1]

आत्मा की यह लीला, आत्मा का स्वभाव अद्‌भुत से अद्‌भुत है। वह लीला, वह स्वभाव आत्मा के अंदर ही घट रहा है। उसी में कषाय की नाली भी बह रही है और वहीं शांति-सुधा का झरना भी झर रहा है। भव-भव की पीड़ा भी वहीं पर है तो मुक्ति रूपी रमणी का सुख भी वहीं है। संसार भी वहीं है तो मोक्ष भी वहीं है। सारा लोक उसी में आलोकित हो रहा है। इसके उपरांत भी यदि हम कहें कि हमें कुछ नहीं पता, कि यह किसका परिणाम है तो यह हमारी अज्ञानता ही होगी। और इसका कारण भी यह है कि हम अन्दर न झांककर बाहर ही बाहर देखते हैं। हम उनकी शरण में भी आज तक नहीं गये जो अपनी आत्मा की खोज में लगे हैं। इसी का परिणाम है

1. कलशागीत, पद्य 274 (आचार्य श्री विद्यासागरजी कृत)

कि अन्दर क्या-क्या सुख है, हमें ज्ञात ही नहीं है। अब ऋषभनाथ मुनिराज अपने ही भीतर झांक कर हजार वर्ष तक साधना करेंगे। हेय को निकालकर उपादेय को उपलब्ध करेंगे। वे वर्द्धमान-चारित्र वाले हैं। क्षायिक-सम्यक्‌दर्शन और मनःपर्यय ज्ञान के साथ जीवन व्यतीत कर रहे हैं। पर ध्यान रहे कि कोई तीर्थंकर भले ही हो पर जब तक छद्‌मस्थ रहेगा, तब तक उसे भी अप्रमत्त से प्रमत्त दशा में आना ही पड़ेगा। आधा मिनिट के लिए यदि आत्मा के अन्दर टिकेंगे तो कम से कम एक मिनिट के लिए बाहर आना ही पड़ेगा अर्थात् अप्रमत्त दशा का अनुभव यदि एक मिनिट के लिए होता है तो प्रमत्त दशा का उससे दुगने समय तक होगा। हजार वर्ष तक यही चलेगा। यह तो एक तरह से झूला-झूलना है। झूला ऊपर जाता है तो नीचे भी आता है। ऐसा नहीं है कि ऊपर गया तो ऊपर ही रहे, नीचे न आये। बल्कि होता यह है कि ऊपर तो रहता है कम और नीचे की ओर ज्यादा। इसे ऐसा समझें कि लक्ष्य को छूना कुछ समय के लिए ही हो पाता है फिर, पुनः छूने के लिए शक्ति को बटोरना पड़ता है। संसार का त्याग करने के उपरांत कोई कितना भी चाहे, भले ही अन्तर्मुर्हूत में केवलज्ञान प्राप्त कर ले परन्तु इसी प्रकार हजारों बार उसे ऊपर-नीचे आना होगा। प्रमत्त-अप्रमत्त दशा में रहना होगा।

कई लोग कह देते हैं कि भरतजी को कपड़े उतारते-उतारते ही केवलज्ञान को गया, परन्तु ऐसी बातें कहना सिद्धांत का ज्ञान नहीं होने का प्रतीक है। भरतजी की प्रशंसा मैं भी करता हूँ लेकिन प्रशंसा ऐसी नहीं होनी चाहिए जिसमें सिद्धांत से विरोध आये। करणानुयोग के अनुसार तो कोई कितना ही प्रयत्नशील क्यों न हो, उसे दिगम्बरत्व धारण करने के उपरांत केवलज्ञान प्राप्त करने में कम से कम अन्तर्महूर्त का काल आपेक्षित है और उस अन्तर्मुहूर्त में भी उसे हजारों बार प्रमत्त-अप्रमत्त दशा में झूलना पड़ेगा। कषायों को निकालने के लिये इतना परिश्रम तो करना ही पड़ेगा।

आज ऋषभनाथ मुनिराज को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई है। केवलज्ञान का अर्थ मुक्ति नहीं है। अभी मोक्ष-कल्याणक तो कल होगा। अभी तो प्रीवियस हुआ है, फाइनल शेष है। इस केवलज्ञान की प्राप्ति के लिये उन्हें किस प्रकार की प्रक्रिया करनी पड़ी यह भी जान लेना चाहिए। संसार-वर्धक भावों को दूर हटाने की विधि आचार्यों ने बताई है ताकि कोई भी संसारी प्राणी सुगमता से, सरलता से अपने लक्ष्य तक पहुँच सके। दो बातें पहले समझ लें। एक तो योग और दूसरा मोह। योग अर्थात् आत्मा के प्रदेशों का परिस्पंदन

और मोह अर्थात् विकृत उपयोग। ज्ञेयभूत पदार्थों से जब उपयोग प्रभावित होता है और ज्ञेयभूत पदार्थ उपयोग पर प्रभाव डालते हैं तब उपयोग में विकृति आती है जिसमें पाप का आस्रव, अशुभ का आस्रव होता है। इसलिए सर्वप्रथम उपयोग को एकाग्र करना परमावश्यक है। वह उपयोग ज्ञेय पदार्थों से प्रभावित न हो ऐसी व्यवस्था करने की आवश्यकता पड़ती है। उपाय करना होता है। उपाय अलग है और उपादेय अलग। उपाय वह है जो उपादेय को प्राप्त करा सके। मुक्ति उपादेय है जो अनंत-काल तक रहने वाली है और विभाव-परिणति दुख देने वाली और संसार की कारण होने से हेय है। हेय का अभाव करने के लिये और उपादेय को प्राप्त करने के लिये उपाय की बड़ी आवश्यकता होती है। उपाय यही है कि उपयोग को एकाग्र किया जाये और उपयोग को एकाग्र करने के लिए संयम की आवश्यकता है। बारह प्रकार के तपों की आवश्यकता है। जब संयम और तप के माध्यम से उपयोग एकाग्र हो जाता है, ज्ञेय-पदार्थों से प्रभावित नहीं होता तब पाप-प्रकृतियां पूर्ण रूप से निकल पाती है।

एक बात ध्यान रखना कि पहले पाप को ही निकालना होगा। पुण्य को शुभ-भाव को आप पहले नहीं निकाल सकेंगे। क्योंकि शुभ-भाव योग को कहा है, वह योग बाद में जायेगा। सर्व प्रथम मोह जो उपयोग को आघात पहुँचा रहा है उसे निकालना होगा। तभी उस मोह के माध्यम से आई हुई पाप-प्रकृतियों का आस्रव रुक सकेगा। उदाहरण के लिये ऐसा समझें कि एक व्यक्ति गंदे वस्त्र को साफ करना चाहता है और वह वस्त्र इतना गंदा हो गया है कि उसकी सफेदी देखने में नहीं आ रही है। उस समय मैल को हटाने के लिए उसे सोडा/साबुन जो भी हो उससे साफ करना होगा। अब मैं पूछना चाहता हूँ कि वस्त्र के साफ हो जाने के बाद भी साबुन का अंश उस कपड़े में आ गया, रह गया तो उसे भी निकालना होगा या नहीं। निकालना तो होगा लेकिन पहले साबुन का अंश निकालें फिर मैल निकालें- ऐसा हो नहीं सकता। पहले तो साबुन के माध्यम से कपड़े का मैल निकलेगा, जिसे पाप कहें, उसके उपरांत साबुन का अंश निकलेगा। अंत में सफेदी लाने के लिये आप लोग कपड़ों को टिनोपाल में भी डालते हैं।

कोई व्यक्ति सोचे कि टिनोपाल में डालने से ही वस्त्र चमकदार हो जाते हैं इसलिये साबुन की जरूरत ही नहीं है तो उसका ऐसा सोचना व्यर्थ ही

है। गंदे कपड़े टिनोपाल में कितना भी क्यों न डाले जायें, भले ही पूरी डिबिया समाप्त कर दें पर गंदापन नहीं जायेगा। गंदापन निकालने के लिये पहले साबुन का उपयोग करना होगा। साबुन का भी गंदापन है और कीचड़ का भी गंदापन है पर दोनों में बहुत अंतर है। कीचड़ का गंदापन पाप के समान है जो पहले हटेगा। और जैसे-जैसे पाप को हटायेंगे वैसे-वैसे पुण्य की वृद्धि नियम से होती जायेगी। जैसे-जैसे साबुन मलते जायेंगे वैसे-वैसे मैल का अंश निकलता जायेगा और साबुन का अंश बढ़ता जायेगा। जब तक मैल का अंश नहीं हट जाता तब तक साबुन आप रगड़ते ही जायेंगे, तभी काम बनेगा। जहाँ मात्र योग रहता है वहाँ मात्र पुण्य का आस्रव होता है इसलिये योग का अर्थ है मात्र पुण्य का आस्रव होना, परन्तु मोह के साथ पाप का भी आस्रव होगा। मोह को मैल की तरह पहले निकालना होगा। परन्तु अकेला योग साबुन के अंश की तरह आखिरी समय तक रहेगा और बढ़ता ही जायेगा।

सोचो जब आप स्नान करते हैं तो पहले साबुन लगाकर मैल हटाते हैं फिर पानी से धोते हैं तब कहीं जाकर तौलिये के माध्यम से उस पानी के अंश को भी सुखा देते हैं। तौलिया मैल निकालने के लिये नहीं है वह तो मैल निकालने के बाद पानी को हटाने के लिये है। मोह अर्थात् कीचड़ या मैल है जिसे निकालने के लिये योग अर्थात् पानी का योग जरूरी है। योग अपना काम करता जाता है, पुण्य आता जाता है और मोह के माध्यम से आने वाला कीचड़/पाप समाप्त होता जाता है। जब अकेला योग रह जायेगा अर्थात् जब बदन पर मात्र पानी की बूँदें रह जायेंगी तब आप योग-निग्रह कर लेते हैं अर्थात् तौलिये के माध्यम से शरीर को सुखा लेते हैं। तो वही प्रक्रिया है कि पहले पाप का अभाव होता है और बाद में पुण्य का भी अभाव हो जाता है। जो लोग पहले पुण्य को छोड़ने के लिये कहते हैं उनसे मैं पूछना चाहूँगा कि भाईयों! जब आपके पास पुण्य है ही नहीं तो छोड़ेंगे क्या? पास में जो पाप है उसे ही पहले छोड़ने की बात आचार्यों ने कही है।

पापों का त्याग करके संयम के माध्यम से पुण्य का अर्जन होता चला जाता है और जितना-जितना संयम बढ़ता है उतना-उतना पुण्य भी बढ़ता जाता है। जितना आप लोग जीवन में दान, पूजादि करके पुण्यार्जन करते हैं उतना और उससे भी ज्यादा पुण्य का अर्जन एक मुनिराज आहार लेते हुए भी कर लेते हैं क्योंकि उनके द्वारा कर्मों की निर्जरा के हेतु अपनाया गया

संयम असंख्यात गुणी निर्जरा में सहायक होता है। वे न चाहते हुए भी अधिक पुण्य का अर्जन कर लेते हैं और श्रावक चाहते हुए भी उतने पुण्य का अर्जन नहीं कर पाता। सबसे ज्यादा पुण्य का अर्जन करने वाला यदि कोई व्यक्ति है तो वह है संयमी। संयमी में भी यों कहिये यथाख्यात चारित्र को अपनाने वाला और उसमें भी केवली भगवान के तो अकेला पुण्य का साता का अर्जन होता है, जो पुण्य को नहीं चाहते हुए भी विशिष्ट पुण्य का अर्जन करते हैं। परंतु विशेषता संयमी की यही है कि उसने पुण्य के फल को ठुकराया है। ध्यान रखना, पुण्य के बंध को कोई ठुकरा नहीं सकता। पुण्य के फल को अवश्य ठुकराया जा सकता है। आप लोग पुण्य के फल को तो अपने पास रखना चाहते हैं, रख लेते हैं लेकिन पुण्य को हेय कहकर उसे छोड़ने की बात करते रहते हैं।

दौलतरामजी छहढाला में कहते हैं कि "पुण्य पाप फल माहिं हरख विलखो मत भाई!" वे पुण्य-पाप के बंध की बात नहीं कहते बल्कि पुण्य और पाप के फल की बात कर रहे हैं कि पुण्य और पाप के शुभ-अशुभ फल में हर्ष-विवाद मत करो। पुण्य के फल को भोगने में ही संसारी प्राणी स्वाद का अनुभव करता है और लुब्ध हो जाता है। पुण्य का अर्जन करने वाला संयमी व्यक्ति अपनी आत्मा को नहीं भूलता जबकि पुण्य के फल को भोगने वाला असंयमी व्यक्ति स्वयं को भूल जाता है और पुण्य के फल में रच-पच जाता है। पुण्य का बंध करने वाला जीव आत्मा को भूल जाता है, यदि कोई ऐसा कहता है तो यह उसकी नासमझी ही होगी क्योंकि अरिंहत/सर्वज्ञ भगवान को सबसे अधिक पुण्य का आस्रव होता है लेकिन वे आत्मस्थ रहते हैं। पंचेन्द्रिय विषय रूप पुण्य के फल को भगवान ने स्वयं ठुकराया और पाप के फल में उन्होंने विषाद नहीं किया। पुण्य के बंध को रोकने में वे भी अभी असमर्थ है। आज तक जो भी पाप आ रहा था उसे निकालने के लिए बारह तपों को ऋषभनाथ ने अपनाया। पुण्य को हटाने के लिये कल प्रयास होगा तभी मोक्ष की प्राप्ति होगी। इसलिये बंधुओं! सर्व प्रथम पापरूप क्रिया को रोका जाता है और जैसे-जैसे उपयोग अशुभ से हटकर आत्मा में एकाग्र होने लगता है वैसे-वैसे पाप आना बंद हो जाता है, पाप की सत्ता भी नष्ट होती जाती है और अन्तर्मुहूर्त में कैवल्य की उपलब्धि हो जाती है। कैवल्य की उपलब्धि सहज नहीं है, वह ज्ञान की उपयोग की समीचीनता प्राप्त होने पर ही सम्भव है। विचार करो, ज्ञान आपके पास है तो ज्ञान

भगवान के पास भी है। परन्तु जहाँ आपका ज्ञान पूजनीय नहीं है, वहीं भगवान् का ज्ञान पूजनीय क्यों है? अथवा दोनों के ही ज्ञानों में पूज्यता क्यों नहीं है? इस पर विचार करने से ज्ञात होता है कि प्रभु का ज्ञान ही पूज्य है। हमारा ज्ञान कषाय से अनुरंजित है और वे कषाय से रहित हैं। वैसे आत्मा में अनन्त गुण विद्यमान हैं किन्तु उन गुणों में से एक गुण ही ऐसा है जिसके कारण उसे परेशानी हो रही है। वह गुण ज्ञानगुण है। इस चेतन गुण में ही ऐसी शक्ति है जो स्व और पर को जान लेता है, वस्तु को देखकर राग-द्वेष-कषाय से प्रभावित हो जाता है। हमारा-छद्मस्थों का ज्ञान अपूर्ण है, वहीं सर्वज्ञ भगवान का ज्ञान पूर्ण है, वे कषाय तथा राग-द्वेष से भी रहित हैं। यही हमारे एवं उनके ज्ञान की अपूज्यता-पूज्यता के लिये कारणभूत है।

कई सज्जन कहते हैं कि पाप के समान पुण्य भी हेय है। मैं उनसे पूछना चाहता हूँ कि पुण्य का अभाव कहाँ पर होता है? पाप कहाँ पर बाधक है? पुण्य का बंध मोक्षमार्ग में बाधक नहीं बनता किन्तु पाप का बंध मोक्ष में बाधक है। पुण्य का बंध होता रहता है और मोक्षमार्ग अबाध रूप से चलता रहता है। मोक्षमार्ग तो चौदहवें गुणस्थान तक चलता है और तेरहवें गुणस्थान तक पुण्य का बंध होता रहता है, वह बाधक नहीं बनता। अगर पुण्य बाधक होता तो वहाँ पर पहुँचता ही कैसे? इसलिए अभी पुण्य बंध अपने लिए छोड़ने योग्य नहीं है लेकिन पुण्य का फल अवश्य छोड़ने योग्य है। मैंने अभी शुभ और अशुभ भावों की बात कही थी कि अशुभ-भाव से पाप का बंध होता है और शुभ भाव से पुण्य का बंध होता है। केवलज्ञान होने के उपरांत भी साता वेदनीय रूप गुण का आस्रव होता रहता है, उससे केवलज्ञान में कोई बाधा नहीं आती। इसे सर्वार्थसिद्धि में पूज्यपाद स्वामी ने स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "पुनाति आत्मानं पवित्री करोति इति पुण्यं-" जो आत्मा को पावन बनाये वह पुण्य है। केवलज्ञान की प्राप्ति के लिए 'केवल-पुण्य' की ही आवश्यकता है, पाप मिश्रित पुण्य की नहीं। जिसमें पाप का एक अंश भी नहीं है ऐसे केवल-पुण्य के द्वारा केवल्य की प्राप्ति होती है और ऐसे पुण्य का आस्रव मात्र योग के माध्यम से होता है। योग भी भाव है और यह भाव किसी कर्म-कृत नहीं है किन्तु आत्मा का पारिणामिक भाव है। इस बात का उल्लेख वीरसेन स्वामी ने धवला-ग्रंथ में स्पष्ट रूप से किया है।

योग आत्मा की क्रियावती शक्ति है जिसके माध्यम से आत्मा में परिस्पंदन होता है जिसके फलस्वरूप कर्मवर्गणायें आती है और चली जाती है। यदि

वहीं पर मोह हो तो वे चिपक जाती है लेकिन मोह के अभाव में मात्र योग होने से वे टकराकर वापिस चली जाती हैं। योग जब तक हैं तब तक कर्मों का आना रुकता नहीं है। इसलिये सर्वप्रथम पाप रूपी रेणु न आये इसका प्रयास किया जाना चाहिए। यदि अपनी आत्मा को शुद्ध बनना चाहते हो तो यही क्रम अपनाना होगा। आत्म लक्ष्य हो जाने पर हेय क्या है? उपादेय क्या है? यह सहज ही समझ में आ जायेगा। अन्तर्दृष्टि हो जाने पर हेय का विमोचन होता जायेगा तथा उपादेय ग्रहण/उपलब्ध होता जायेगा।

क्या हो गया, समझ मैं मुझको न आता
क्यों बार-बार मन बाहर दौड़ जाता।
स्वाध्याय, ध्यान करके मन रोध पाता
पै श्वान सा मन सदा मल शोध लाता॥[1]

मन की चाल श्वान जैसी है, वह अन्दर अच्छी जगह टिकना नहीं चाहता। जैसे पालतू कुत्ता आपके घर में रहता है, जब तक आप उसे रस्सी से बांधकर रखते हैं तब तक यह घर में रहता है। थोड़ा रस्सी छोड़ दो तो बाहर निकल जाता है और बाहर उसकी दृष्टि पहले मल की ओर ही जाती है। इसी प्रकार मन बाहर चला जाता है तो वह कषायों को, पाप को ही साथ लेकर आता है। इसलिए यदि पाप से बचना चाहते हो, उसे दूर हटाना चाहते हो तो मन को बाहर ही मत भेजो। मन को अपने भीतर ही एकाग्र करने की कोशिश करो। यह कार्य कठिन है लेकिन जैसे गर्म खीर को खाने के लिये पहले किनारे से फूँक-फूँककर खाना शुरू कर देते हैं, बीच में हाथ नहीं डालते इसी प्रकार मन को एकाग्र करने के लिये अपना प्रत्येक समय सावधानीपूर्वक धीरे-धीरे अपनी आत्मा को ही देखने में लगाना चाहिए।

एक बात और सुनने में आती है कि संसारी जीव के केवलज्ञान आत्मा में विद्यमान है और पूर्ण रूप से तो नहीं-मात्र किरण के रूप में सामने आता है अर्थात् हमारा जो ज्ञान है वह भी केवलज्ञान का ही अंश है। लेकिन ऐसा नहीं है क्योंकि ध्यान रखना, केवलज्ञान तो क्षायिक ज्ञान है और उस केवलज्ञान का अंश भी क्षायिक ही होगा, वह क्षायोपशमिक हो नहीं सकता जबकि हमारा ज्ञान अभी क्षायोपशमिक है। साथ ही केवलज्ञानावरणीय ये कर्म प्रकृति

1. निजानुभव शतक, पद्य 49, आचार्य विद्यासागरजी कृत

सर्वघाती प्रकृति है। सर्वघाती उसे कहते हैं जो आत्मा के विवक्षित गुण का एक अंश भी प्रकट नहीं होने देती। केवलज्ञान जब भी होगा वह पूर्ण ही होगा। एक समय के उपरांत होने वाला केवलज्ञान एक समय पूर्व भी नहीं हो सकता, एक अंश में भी उदय में नहीं आ सकता। क्योंकि केवलज्ञान की पूर्ण शक्ति को मिटाने वाला केवलज्ञानावरणीय कर्म विद्यमान है। कार्तिकेय स्वामी ने कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा है-

का वि अपुव्वा दीसदि, पुग्गलदव्वस्स एरिसी सत्ती।
केवलणाणसहाओ, विणासिदो जाइ जीवस्स॥ 211॥

पुद्गल की कोई अमूर्तिक शक्ति ऐसी अवश्य है जिसने केवलज्ञान रूप आत्मा के गुण को समाप्त कर रखा है, जरा भी प्रकट नहीं होने दिया है। इसलिये हमारा जो वर्तमान ज्ञान है वह क्षयोपशमिक ज्ञान है, वह सामान्य कोटि का है। केवलज्ञान की कोटि का नहीं है। बंधुओं! केवलज्ञान तो असाधारण ज्ञान है जिस ज्ञान की महिमा अपरंपार है; वह ज्ञान पूज्य है। ऐसे केवलज्ञान की तुलना अपने क्षयोपशम ज्ञान के साथ करना उचित नहीं है। साथही यह करणानुयोग को नहीं समझना ही है। पुरुषार्थ-सिद्धि-उपाय में अमृतचन्द्र सूरी ने लिखा है कि-

तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तैरनंत-पर्यायैः।
दर्पण तल इव सकला प्रतिफलति पदार्थ मालिका यत्रः॥

केवलज्ञान में दुनिया के सारे पदार्थ झलक रहे हैं, सभी पर्यायें झलक रही है। प्रतिबिंबित हो रही है। केवलज्ञान का प्रकाश दर्पण के समान स्वच्छ निर्मल और आदर्श है। इसलिये पूजनीय है। हमारा ज्ञान पूज्य नहीं है क्योंकि वह कषाय से अनुरंजित है।

बंधुओं! दिव्य आत्मा करने की शक्ति हमारे पास भी है। हम उसे दिव्य/आदर्श बना सकते हैं। अभी वह मोह के माध्यम से कलुषित हो रही है। इसी मोह को हटाने का पुरुषार्थ करना चाहिए। आदिनाथ स्वामी ने जिस प्रकार क्रमशः संयम और तप के माध्यम से शुद्धात्मानुभूति को प्राप्त किया है उसी प्रकार हमें भी प्रयास करना चाहिए। वे धन्य हैं जिन्होंने केवलज्ञान को प्राप्त कर लिया है, वे भी धन्य हैं जो केवलज्ञान को प्राप्त करने में रत हैं और वे भी धन्य हैं जो केवलज्ञान प्राप्त करने के लिए साधना को अपनाने की रुचि रखते हैं। □□

मोक्षः संसार के पार

हे कुन्दकुन्द मुनि! भव्य सरोज बन्धु,
मैं बार-बार तव पाद-सरोज बन्दूँ।
सम्यक्त्व के सदन हो समता सुधाम,
है धर्मचक्र शुभ धार लिया ललाम॥

आज एक संसारी प्राणी ने किस प्रकार बंधन से मुक्ति पाई और किस प्रकार पतन के गर्त से ऊपर उठकर सिद्धालय की ऊंचाईयों तक अपने को पहुंचाया- ये देखने/समझने का सौभाग्य इस पंचकल्याणक के अवसर पर हमें मिला। यह मुक्त दशा इसे आज तक प्राप्त नहीं हुई थी, आज ही प्राप्त हुई और बिना प्रयास के प्राप्त नहीं हुई बल्कि परम पुरुषार्थ के द्वारा प्राप्त हुई है। इससे यह भी ज्ञात हुआ कि संसारी जीव बंधन-बद्ध है और उसे बन्धन से मुक्ति मिल सकती है, यदि वह पुरुषार्थ करे तो। ऋषभनाथ का जीव अनादि-काल से संसार में भटक रहा था, उसे स्व-पद की प्राप्ति नहीं हुई थी। इसका कारण यही था कि इस भव्य जीव ने मोक्ष की प्राप्ति के लिये पुरुषार्थ नहीं किया था। लेकिन आज जो शक्ति अभी तक अव्यक्त रूप से उसमें विद्यमान थी, वह पुरुषार्थ के बल पर व्यक्त हुई है।

कोई भी कार्य अपने आप नहीं होता। सोचो, जब बंधन अपने आप नहीं होता तो मुक्ति कैसे अपने-आप हो जायेगी। चोर जब चोरी करता है तभी जेल जाता है, बंधन में पड़ता है। इसी प्रकार यह आत्मा जब राग-द्वेष, मोह करता है 'पर-पदार्थों' को अपनाता है, उनसे संबंध जोड़ता है और उनमें सुख-दुख का अनुभव करने लगता है तभी उनसे बंध जाता है। सभी सांसारिक सुख-दुख संयोगज हैं। पदार्थों के संयोग से उत्पन्न होते हैं। पदार्थों के संयोग से राग-द्वेष होता है जो आत्मा को विकृत करता है और संसारी जीव अपने संसार का निर्माण स्वयं करता जाता है। आज इस संसार रूपी जेल को तोड़कर छूट जाने का दिन है। ध्यान रखना, ये संसार रूपी जेल अपने आप नहीं टूटता, तोड़ा जाता है और जेल तोड़ने वाला, बंधन से छूटने वाला जेलर नहीं है, कैदी ही होता है। जेल को बनाने वाला भी कैदी ही है। जेलर तो मात्र देखता रहता है। इसी प्रकार संसारी प्राणी अपना संसार स्वयं निर्मित

करता है, मुक्तात्मायें तो उनके बंधन को देखने-जानने वाला हो जाता है। हम भी यदि पुरुषार्थ करें तो नियम से इस संसार से मुक्त हो सकते हैं। यही आज हमें अपना ध्येय बनाना चाहिए।

प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है, स्वतंत्र होना चाहता है किन्तु स्वतंत्रता के मार्ग को अपनाना नहीं चाहता। तब सोचो क्या यों ही बैठे-बैठे उसे आजादी/स्वतंत्रता मिल जायेगी? ऐसा कभी संभव नहीं है। एक राष्ट्र जब दूसरे राष्ट्र की सत्ता से मुक्त होना चाहता है तो उसे बहुत पुरुषार्थ करना होता है। आजादी की लड़ाई लड़नी होती है। उदाहरण के लिये भारतवर्ष को ही ले लें। आज से 15 अगस्त 1947 से पहले, पहले भारत के लोग परतंत्रता का अनुभव कर रहे थे। परतंत्रता के दुख को भोग रहे थे। तब धीरे-धीरे अहिंसा के बल पर अनेक नेताओं ने मिलकर देश को स्वतंत्रता दिलाई। लोक-मान्य तिलक ने नारा लगाया कि स्वतंत्रता हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है। लोगों के मन में यह बात बैठ गयी और परिणामस्वरूप भारत को स्वतंत्रता मिली। ठीक इसी प्रकार पराधीनता हमारा जीवन नहीं है, स्वतंत्रता ही हमारा जीवन है- ऐसा विश्वास जाग्रत करके जब हम बंधन को तोड़ेंगे तभी मुक्ति मिलेगी।

जिस प्रकार दूध में घी अव्यक्त है; शक्ति-रूप में विद्यमान है उसी प्रकार आत्मा में शुद्ध होने की शक्ति विद्यमान है। उस शक्ति को अपने पुरुषार्थ के बल पर व्यक्त करना होगा। तभी हम सच्चे मुमुक्षु कहलायेंगे, भव्य कहलायेंगे। जो अभी वर्तमान में पुरुषार्थ नहीं करते वे भव्य होते हुए भी दूरान्दूर भव्य कहे जायेंगे। या दूर-भव्य कहे जायेंगे, आसन्न भव्य तो नहीं कहलायेंगे। एक अंध पाषाण होता है जिसमें स्वर्ण शक्ति-रूप में तो रहता है लेकिन कभी भी उस पाषाण से स्वर्ण अलग नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार दूरान्दूर भव्य है जो भव्य होने पर भी वे अभव्य की कोटि में ही आ जाते हैं क्यों कि शक्ति होते हुए भी कभी उसे व्यक्त नहीं कर पाते।

उमास्वामी आचार्य ने तत्त्वार्थसूत्र में दशवें अध्याय में मोक्ष के स्वरूप का वर्णन किया है। उस मुक्त-अवस्था का क्या स्वरूप है - यह बतलाया है। उससे पूर्व नवमें अध्याय में वह मुक्त-अवस्था कैसे प्राप्त होगी-यह बात कही है। जिस प्रकार तूँबी मिट्टी का संसर्ग पाकर अपना तैरने वाला स्वभाव छोड़कर डूब जाती है और मिट्टी का संसर्ग पानी में घुल जाने के बाद फिर से हल्की होकर ऊपर तैरने लग जाती है, ऐसे ही यह आत्मा राग-द्वेष और पर-पदार्थों

के संसर्ग से संसार-सागर में डूबी हुई है जो जीव पर-पदार्थों का त्याग कर देते हैं और राग-द्वेष हटाते हैं वे संसार सागर से ऊपर, सबसे ऊपर उठकर अपने स्वभाव में स्थित हो जाते हैं। दूध में जो घी शक्ति-रूप में विद्यमान है उसे निकालना हो तो ऐसे ही मात्र हाथ डालकर उसे निकाला नहीं जा सकता। यथाविधि उस दूध का मंथन करना होता है। मंथन करने के उपरांत भी नवनीत का गोला ही प्राप्त होता है जो कि छाछ के नीचे-नीचे तैयार रहता है। अभी उस नवनीत में भी शुद्धता नहीं आयी इसलिये वह पूरी तरह ऊपर नहीं आता। भीतर ही भीतर रहा जाता है और जैसे ही नवनीत को तपा करके घी बनाया जाता है तब कितना भी उसे दूध या पानी में डालो वह ऊपर ही तैरता रहता है। ऐसी ही स्थिति कल तक आदिनाथ स्वामी की थी। वे पूरी तरह मुक्त नहीं हुए थे। जिस प्रकार अंग्रेजों से पन्द्रह अगस्त 1947 को भारत वर्ष को आजादी/स्वतंत्रता तो मिल गई थी किन्तु वह स्वतन्त्रता अधूरी ही थी। देश को सही/पूर्ण स्वतन्त्रता तो 26 जनवरी 1950 को मिली थी जब देश अपने ही नियम-कानूनों के अन्तर्गत शासित हुआ। वैसे ही आदिनाथ प्रभु की स्वतन्त्रता अपूर्ण थी क्योंकि वे शरीर रूपी जेल में थे। आज पूरी तरह संसार और शरीर दोनों से मुक्त हुए हैं। शरीर भी जेल ही तो है। शरीर को फारसी भाषा में बदमाश कहा जाता है। शरीर शरीफ नहीं है बदमाश है। यदि इस शरीर का मोह छूट जाये तो जीव को संसार में कोई बांध नहीं सकता।

अत: बंधुओं! जितनी मात्रा में आप परिग्रह को कम करेंगे, शरीर के प्रति मोह को कम करेंगे, आपका जीवन उतना ही हल्का होता जायेगा, अपने स्वभाव को पाता जायेगा। जिस प्रकार नवनीत का गोला जब तक भारी था तभी तक अन्दर था, जैसे ही उसे तपा दिया तो वह हल्का हो गया। सुगंधित घी बन गया। अब नीचे नहीं जायेगा। अभी आप लोगों में से कुछ ऐसे भी हैं जो न घी रूप में है और न ही नवनीत के रूप में बल्कि दूध के रूप में ही है। संसारी जीव कुछ ऐसे होते हैं जो फटे हुए दूध के समान हैं जिसमें घी और नवनीत का निकलना ही मुश्किल होता है तो कुछ ऐसे जीव भी हैं जो कि भव्य जीव हैं, वे सुरक्षित नवनीत की तरह हैं जो समागम रूपी ताप के मिलने पर घी रूप में परिणत हो जायेंगे और संसार से पार हो जायेंगे। आप सभी को यदि अनन्त सुख को पाने की अभिलाषा हो तो परिग्रह रूपी भार को कम करते जाओ। जो पदार्थ जितना भारी होता है वह उतना ही नीचे जाता है। तराजू में भारी पलड़ा नीचे बैठ जाता है और हल्का ऊपर उठ जाता है। इसी प्रकार परिग्रह का भार संसारी प्राणी को नीचे ले जाने में

कारण बना हुआ है। लौकिक दृष्टि से भारी चीज की कीमत भले ही ज्यादा मानी जाती हो लेकिन परमार्थ के क्षेत्र में तो हल्के होने का, पर-पदार्थों के भार से मुक्त होने का महत्व है। क्योंकि आत्मा का स्वभाव पर-पदार्थों से मुक्त होकर उर्ध्वगमन करने का है।

उमास्वामी आचार्य ने यह भी कहा है कि बहु-आरंभ और बहु-परिग्रह रखने वाला नरकगति का पात्र होता है। बहुत पुरुषार्थ से यह जीव मनुष्य जीवन पाता है लेकिन मनुष्य जीवन में पुन: पदार्थों में मूर्च्छा, रागद्वेषादि करके नरकगति की ओर चला जाता है। नारकी जीव से तत्काल नारकी नहीं बन सकता। तिर्यंच भी पांचवें नरक तक ही जा सकता है लेकिन कर्मभूमि का मनुष्य और उसमें भी पुरुष सातवें नरक तक चला जाता है। यह सब बहुत आरंभ और बहुत परिग्रह के कारण ही होता है। बड़ी विचित्र स्थिति है। पुरुष का पुरुषार्थ उसे नीचे की ओर भी ले जा सकता है और यदि वह चाहे तो मोक्ष-पुरुषार्थ के माध्यम से लोक के अग्रभाग तक जाने की क्षमता रखता है। वह मुक्ति का मार्ग भी अपना सकता है और संसार में भटक भी सकता है। यह सब जीव के पुरुषार्थ पर निर्भर है, केवल पढ़ लेने से या उनके जानने मात्र से नहीं।

पतन की ओर तो हम अनादि-काल से जा रहे हैं परन्तु उत्थान की ओर आज तक हमारी दृष्टि नहीं गयी। हम अपने स्वभाव से विपरीत परिणमन करते रहे हैं और अभी भी कर रहे हैं। इस विभाव या विपरीत परिणमन को दूर करने के लिये ही मोक्षमार्ग है। पांच दिन तक आपने विभिन्न धार्मिक कार्यक्रम देखे, विद्वानों के प्रवचन सुने। ये सभी बातें विचार करके विवेकपूर्वक क्रिया में लाने की हैं। अपने जीवन को साधना में लगाना अनिवार्य है। जितना आप साधना को अपनायेंगे उतना ही कर्म से मुक्त होते जायेंगे। पापों से मुक्त होते जायेंगे। जैसे तूंबी मिट्टी का संसर्ग छोड़ते ही पानी के ऊपर आकर तैरने लगती है और उस पंक-रहित तूंबी का आलंबन लेने वाला व्यक्ति भी पार हो जाता है वैसे ही हमारा जीवन यदि पापों से मुक्त हो जाता है तो स्वयं के साथ-साथ औरों को भी पार करा देता है। राग के साथ तो डूबना ही डूबना है। पार होने के लिये एकमात्र वीतरागता का सहारा लेना ही आवश्यक है। वर्तमान में सच्चे देव-गुरु-शास्त्र, जो छिद्र रहित और पंक रहित तूँबी के समान हैं उनका सहारा यदि हम ले लें तो एक दिन अवश्य पार हो जायेंगे।

स्वाधीनता, सरलता, समता स्वभाव,
तो दीनता, कुटिलता, ममता विभाव।
जो भी विभाव धरता, तजता स्वभाव,
तो डूबती उपल-नाव, नहीं बचाव।।[1]

स्वाधीनता, सरलता और समता ही आत्मा का स्वभाव है और राग-द्वेष, क्रोध आदि विभाव है। जो इस विभाव का सहारा लेता है वह समझो पत्थर की नाव में बैठ रहा है जो स्वयं तो डूबती ही है साथ ही बैठने वाले को भी डुबा देती है। आपको वीतरागता की, स्वभाव की उपासना करनी चाहिए। यदि आप वीतरागता की उपासना कर रहे हैं तो ये निश्चित समझिये कि आपका भविष्य उज्ज्वल है। ये वीतरागता की उपासना कभी छूटनी नहीं चाहिए। भले ही आपके कदम आगे नहीं बढ़ पा रहे, पर पीछे भी नहीं हटना चाहिए। रागद्वेष के आंधी तूफान आयेंगे, बढ़ते कदम रुक जायेंगे लेकिन जैसे ही रागद्वेष की आंधी जरा धीमी हो, एक-एक कदम आगे रखते जाइये, रास्ता धीरे-धीरे पार हो जायेगा।

आज तो बड़े सौभाग्य का दिन है, भगवान को निर्वाण की प्राप्ति हुई। एक दृष्टि से देखा जाये तो उसका जन्म भी हुआ। शरीर की अपेक्षा मरण कहो तो कोई बात नहीं; लेकिन जिसका अनंतकाल तक नाश नहीं होगा ऐसी मोक्ष अवस्था का जन्म भी आज ही हुआ है। अजर-अमर पद की प्राप्ति उन्हें हुई है। संसार छूट गया, वे मुक्त हो गये हैं। मैं भी ऐसी प्रार्थना/भावना करता हूँ कि मुझे भी अपनी ध्रुव-सत्ता की प्राप्ति हो। मैं भी पुरुषार्थ के बल पर अपने अजर-अमर आत्म-पद को प्राप्त करूँ।

□□

1. निजानुभव शतक, पद्य 19, आचार्य विद्यासागरजी कृत

प्रवचन प्रदीप

समाधि दिवसः आचार्य श्री ज्ञानसागर जी

कभी-कभी भावों की अभिव्यक्ति शब्दों के द्वारा अल्प समय में करना हो तो कठिनाई मालूम पड़ती है "मुनिपरिषन् मध्ये संनिषण्णं मूर्तमिव मोक्षमार्ग -मवाग् विसर्ग वषुषा निरूपयन्तं निर्ग्रंथ आचार्य-वर्म"- मुनियों की सभा में बैठे हुये, वचन बोले बिना ही मात्र अपने शरीर की आकृति से मानो मूर्तिमान मोक्षमार्ग का निरूपण कर रहे हों, ऐसे आचार्य महाराज को किसी भव्य ने प्राप्त किया और पूछा कि भगवन्! किंनु खलु आत्मने हितं स्यादिति? अर्थात् हे भगवन्! आत्मा का हित क्या है। तब आचार्य महाराज ने कहा कि आत्मा का हित मोक्ष है। तब पुनः शिष्य ने पूछ लिया कि मोक्ष का स्वरूप क्या है? उसकी प्राप्ति का उपाय क्या है?

इस बात का जवाब देने के लिए आचार्य पूज्यपाद स्वामी कहते हैं कि तत्त्वार्थ सूत्र का प्रारंभ हो जाता है और क्रमशः दस अध्यायों में जवाब मिलता है। ऐसा ही ये ग्रन्थ हमारे जीवन से जुड़ा है, जो निर्ग्रंथता का मूल स्त्रोत है।

क्या कहें और किस प्रकार कहें गुरुओं के बारे में क्योंकि जो भी कहा जायेगा वह सब सूरज को दीपक दिखाने के समान होगा। वह समुद्र इतना विशाल है कि अपनी दोनों भुजाओं को फैलाकर बताने का प्रयास; भावाभिव्यक्ति, उसका पार नहीं पा सकती।

एक कवि ने गुरु की महिमा कहने का प्रयास किया और कहा कि जितने भी विश्व में समुद्र हैं उनको दवात बना लिया जाये, पूरा का पूरा पानी स्याही का रूप धारण कर ले और कल्पवृक्ष की लेखनी बनाकर सारी पृथ्वी को कागज बनाकर सरस्वती स्वयं लिखने बैठ जाये तो भी पृष्ठ कम पड़ जायेंगे, लेखनी और स्याही चुक जायेगी, पर गुरु की गुरुता-गरिमा का पार नहीं पाया जा सकता।

'गुरु कुम्हार, शिष्य कुंभ है गढ़-गढ़ काढ़त खोट। भीतर हाथ पसार के, ऊपर मारत चोट।' कुम्हार की भांति मिट्टी को, जो दलदल बन सकती है, बिखर सकती है, तूफान में धूल बनकर उड़ सकती है, घड़े को सुन्दर आकार देने वाले गुरु होते हैं। जो अपने शिष्य को घड़े के समान भीतर तो

करुणा भरा हाथ पसार कर संभाले रहते हैं और ऊपर से निर्मम होकर चोट भी करते हैं।

बाहर से देखने वालों को लगता है कि घड़े के ऊपर प्रहार किया जा रहा है लेकिन भीतर झांक कर देखा जाये तो मालूम पड़ेगा कि कुछ और ही बात है। संभाला भी जा रहा है और चोट भी की जा रही है। दृष्टि में ऐसा विवेक, ऐसी जागरूकता और सावधानी है कि चोट, खोट के अलावा, अन्यत्र न पड़ जाये। भीतर हाथ वहीं है जहां खोट है और जहां चोट पड़ रही है। यह सब गुरु की महिमा है।

किसी कवि ने यह भी कहा है कि

"गुरु गोविंद दोउ खड़े, काके लागूँ पांय,
बलिहारी गुरु आपकी गोविंद दियो बताय"॥

हमें तो लगता है "बताना" क्या यहाँ तो "बनाना" शब्द होना चाहिये। "गोविंद दियो बनाय"। वैसे "बताना" भी एक तरह से "बनाना" ही है। जब गणित की प्रक्रिया सामने आ जाती है तो उत्तर बताना आवश्यक नहीं रह जाता उत्तर स्वयं बन जाता है।

हम उन दिनों न तो उत्तर जानते थे, न प्रक्रिया जानते थे, हम तो नादान थे और उन्होंने (आचार्य ज्ञानसागर जी) हमें क्या-क्या दिया, हम कह नहीं सकते। बस! इतना ही कहना काफी है कि हमारे हाथ उनके प्रति भक्तिभाव से हमेशा जुड़े रहते हैं।

गुरु की महिमा आज तक कोई कह नहीं सका। कबीर का दोहा सुना था-

यह तन विष की बेलड़ी, गुरु अमृत की खान।
शीश दिये यदि गुरु मिलें, तो भी सस्ता जान।

कैसा अद्‌भुत भावभर दिया। कितनी कीमत-आंकी है गुरु की। हम इतनी कीमत चुका पाये तो भी कम है। देने के लिये हमारे पास क्या है? यह तन तो विष की बेल है जिसके बदले अमृत की खान, आत्मा मिल जाती है। यदि यह जीवन गुरु की अमृत-खान में समर्पित हो जाएं तो निश्चित है कि जीवन अमृतमय हो जाएगा।

सोचो, समझो, विचार करो, इधर-उधर की बातें छोड़ो, शीश भी यदि चला जाए तो भी समझना कि सस्ता सौदा है। शीश देने से तात्पर्य गुरु के

चरणों में अपने शीश को हमेशा के लिए रख देना, शीश झुका देना, समर्पित हो जाना। गुरु का शिष्य के ऊपर उपकार होता है और शिष्य का भी गुरु के ऊपर उपकार होता है, ऐसे परस्पर उपकार की बात आचार्यों ने लिखी है। सो ठीक ही है। गुरु शिष्य से और कुछ नहीं चाहता; इतनी अपेक्षा अवश्य रहती है कि जो दिशाबोध दिया है उस दिशा बोध के अनुसार चलकर शिष्य भी भगवान बन जाए। यही उपकार है शिष्य के द्वारा गुरु के ऊपर। कितनी करुणा है। कितना पवित्र भाव है।

"मैं" अर्थात् अहंकार को मिटाने का यदि कोई सीधा उपाय है तो गुरु के चरण-शरण। उनकी विशालता, मधुरता, गहराई और अमूल्य छवि का हम वर्णन भी नहीं कर सकते। गुरु ने हमें ऐसा मंत्र दिया कि यदि नीचे की गहराई और ऊपर की ऊंचाई नापना चाहो तो कभी ऊपर-नीचे मत देखना बल्कि अपने को देखना। तीन लोक की विशालता स्वयं प्रतिबिंबित हो जायेगी।

"जो एग्गं जाणदि सो सव्वं जाणदि"- अर्थात् जो एक को यानी आत्मा को जान लेता है वह सबको, सारे जगत को जान लेता है। धन्य हैं ऐसे गुरु, जिन्होंने हम जैसे रागी-द्वेषी, मोही, अज्ञानी और नादान के लिए भगवान बनने का रास्ता प्रशस्त किया। आज कोई भी पिता अपने लड़के के लिए कुछ दे देता है तो बदले में कुछ चाहता भी है लेकिन गुरु की गरिमा देखो कि तीन लोक की निधि दे दी और बदले में किसी चीज की आकांक्षा नहीं है।

जैसे माँ सुबह से लेकर दोपहर तक चूल्हे के समाने बैठी धुआं सहती रसोई बनाती है और परिवार के सारे लोगों को अच्छे ढंग से खिला देती है और स्वयं के खाने की परवाह नहीं करती। आप जब भी मां की ओर देखेंगे तब वह कार्य में व्यस्त ही दिखेगी और देखती रहेगी कि कहाँ क्या कमी है? क्या-क्या आवश्यक है? क्या कैसा परोसना है? जिससे संतुष्टि मिल सके। पर गुरुदेव तो उससे भी चार कदम आगे होते हैं। हमारे भीतर कैसे भाव उठ रहे हैं? कौन-सी अवस्था में, समय में, कौन से देश या क्षेत्र में आपके पैर लड़खड़ा सकते हैं यह पूरी की पूरी जानकारी गुरुदेव को रहती है। और उस सबसे बचाकर वे अपने शिष्य को मोक्षमार्ग पर आगे ले जाते हैं। युगों-युगों से पतित प्राणी के लिए यदि दिशाबोध और सहारा मिलता है तो वह गुरु के माध्यम से ही मिलता है। गुरु का हाथ और साथ जब तक नहीं मिलता तब तक कोई ऊपर नहीं उठ सकता।

जैसे वर्षा होने से कठोर भूमि भी द्रवीभूत हो जाती है उसी प्रकार गुरु की कृपा होते ही भीतरी सारी की सारी कठोरता समाप्त हो जाती है और नम्रता आ जाती है। इतना ही नहीं बल्कि अपने शिष्य के भीतर जो भी कमियां हैं उनको भी निकालने में तत्पर रहने वाले गुरुदेव ही है। जैसे कांटा निकालते समय दर्द होता है लेकिन कांटा निकल जाने पर दर्द गायब हो जाता है। उसी प्रकार कमियां निकालते समय शिष्य को दर्द होता है लेकिन कमियां निकल जाने पर शांति मिल जाती है। विषाक्तता बढ़ नहीं पाती। गुरुदेव की कृपा से अनंतकालीन विषाक्तता निकलती चली जाती है। हम स्वस्थ हो जाते हैं। आत्मस्थ हो जाते हैं, यही गुरु की महिमा है।

'मरूभूमि का हरा-भरा बनाने के समान जीवन को भी हरा-भरा बनाने का श्रेय गुरुदेव को है। आज आप लोगों के द्वारा गुरु की महिमा सुनते-सुनते मन भर आया है। कैसे कहूँ? अथाह सागर की थाह कौन कर सकता है। उनके ऋण को चुकाया नहीं जा सकता। इतना ही है कि हम उनके कदमों पर चलते जाए; उनके सच्चे प्रतिनिधि बनें और उनकी निधि को देख-देख कर उनकी सन्निधि का अहसास करते रहें। यह अपूर्ण जीवन उनकी स्मृति से पूर्ण हो जाये।

धन्य है गुरु आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज; धन्य है आचार्य शांतिसागर जी महाराज और धन्य है पूर्वाचार्य कुंदकुंद स्वामी आदि महान् आत्माएं जिन्होंने स्वयं दिगम्बरत्व को अंगीकार करके अपने जीवन को धन्य बनाया और साथ ही करुणा-पूर्वक धर्मतीर्थ का प्रवर्तन किया। जीवों को जीवन निर्माण में सहारा दिया।

गुरुदेव ने अपनी काया की जर्जर अवस्था में भी हम जैसे नादान को, ना-समझ को, हम ज्यादा पढ़े-लिखे तो थे नहीं, फिर भी मार्ग प्रशस्त किया। गुरु उसी को बोलते हैं जो कठोर को भी नम्र बना दे। लोहा काला होता है लेकिन पारसमणि के संयोग से स्वर्ण बनकर उज्ज्वल हो जाता है। गुरुदेव हमारे हृदय में रहकर हमें हमेशा उज्ज्वल बनाते जायेंगे, यही उनका आशीर्वाद हमारे साथ है।

हम यही प्रार्थना भगवान से करते हैं, भावना भाते हैं कि- "हे भगवान! उस पवित्र पारसमणि के समान गुरुदेव का सान्निध्य हमारे जीवन को उज्ज्वल बनाये। कल्याणमय बनाये, उसमें निखार लाये। अभी हम मझधार

में हैं, हमें पार लगाये"। अपने सुख को गौण करके अपने दुख की परवाह न करते हुये दूसरों के दुख को दूर करने में, दूसरों में सुख-शान्ति की प्रस्थापना करने में जिन्होंने अपने जीवन को समर्पित कर दिया ऐसे महान् कर्त्तव्यनिष्ठ और ज्ञान-निष्ठ व्यक्तित्व के धारी गुरुदेव का योग हमें हमेशा मिलता रहे। हम मन, वचन, तन से उनके चरणों में हमेशा नमन करते रहें। वे परोक्ष भले ही हैं लेकिन जो कुछ भी हैं यह सब उनका ही आशीर्वाद है।

"गुरुदेव! अभी हमारी यात्रा पूरी नहीं हुई। आप स्वयं समय-समय पर आकर हमारा यात्रा-पथ प्रशस्त करते रहें, अभी स्वयं मोक्ष जाने के लिए जल्दी न करें, हमें भी साथ लेकर जायें"- ऐसे भाव मन में आते हैं। विश्वास है कि गुरुदेव हमेशा हमारा मार्गदर्शन करते रहेंगे। उनका जो भाव रहा पर पूरा अपने जीवन में उतारने और उनकी भावना के अनुरूप आगे बढ़ने का प्रयास हम निरन्तर करते रहेंगे।

स्वयं मुक्ति के मार्ग पर चलकर हमें भी मुक्तिमार्गी बनाने वाले महान् गुरुदेव के चरणों में बार-बार नमस्कार करते हैं। इस जीवन में और आगे भी जीवन में उन्हीं जैसी शांत-समाधि, उन्हीं जैसी विशालता, उन्हीं जैसी कृतज्ञता, उन्हीं जैसी सहकारिता भीतर आये और हम उनके बताये मार्ग का अनुसरण करते हुए धन्यता का अनुभव करते रहें। इसी भावना के साथ-

अज्ञानतिमिरांधानां, ज्ञानांजनशलाकया
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः॥

□□

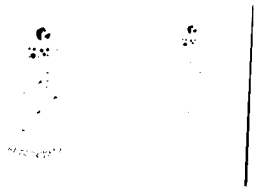

रक्षा-बंधन

भारत पर्वों, उत्सवों, त्यौहारों का देश है। यों तो जीवन का प्रत्येक दिवस एक पुनीत पर्व की तरह है तथापि किसी घटना विशेष के कारण कुछ दिवस पर्व के रूप में भी मनाए जाते हैं। दशलक्षण पर्व और आष्टाह्निक पर्व के समान ही रक्षा-बंधन पर्व का भी महत्व है। रक्षा-बंधन अद्‌भुत पर्व है। बंधन का दिन होने पर भी आज का दिन पर्व माना जा रहा है। सहज ही मन में जिज्ञासा होती है कि पर्व या उत्सव में जो मुक्ति होती है, स्वतन्त्रता होती है, आज का दिन बंधन का दिन होकर भी क्यों इतना पवित्र माना गया है।

बात यह है कि आज का दिन सामान्य बंधन का दिन नहीं है, प्रेम के बंधन का दिन है। यह बंधन वात्सल्य का प्रतीक है। रक्षा-बंधन अर्थात् रक्षा के लिए बंधन, जो आजीवन चलता है बड़े उत्साह के साथ। यह बंधन होकर भी मुक्ति में सहायक है। क्योंकि यह प्राणी मात्र की रक्षा के लिए संकल्पित करने वाला बंधन है।

सभी जीवों पर संकट आते हैं और सभी अपनी शक्ति अनुसार उनका निवारण करते हैं, पर फिर भी मनुष्य एक ऐसा विवेकशील प्राणी है जो अपने और दूसरों के संकटों को आसानी से दूर करने में समर्थ है। मनुष्य चाहे तो अपनी बुद्धि और शारीरिक सामर्थ्य से अपनी और दूसरों की रक्षा कर सकता है। जीव रक्षा उसका कर्त्तव्य है, उसका धर्म भी है।

आज के दिन की महत्ता इसीलिए भी है कि एक महान् आत्मा ने रक्षा का महान् कार्य सम्पन्न करके संसार के सामने रक्षा का वास्तविक स्वरूप रखा कि जीवों की रक्षा, अहिंसा की रक्षा और धर्म की रक्षा ही श्रेष्ठ है। किंतु आज वह रक्षा उपेक्षित है। हम चाहते हैं सुरक्षा मात्र अपनी और अपनी भौतिक सम्पदा की। आज यह स्वार्थ-पूर्ण संकीर्णता ही अब अनर्थों की जड़ बन गई है। मैं दूसरों के लिए क्यों चिंता करूँ, मुझे बस मेरे जीवन की चिंता है। मैं और मेरा आज का सारा व्यवहार यहीं तक सीमित हो गया है।

रक्षकपना लुप्त हो गया है और भक्षकपना बढ़ रहा है। रक्षाबंधन आदि पर्वों के वास्तविक रहस्य को बिना समझे-बूझे प्रतिवर्ष औपचारिकता के लिए इन्हें मनाकर अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं। यह ठीक नहीं

है। स्वयं की परवाह न करते हुए अन्य की रक्षा करना, यह है इस पर्व का वास्तविक रहस्य। विष्णुकुमार मुनिराज ने क्या किया? बंधन को अपनाया; अपने पद को छोड़कर मुनियों की रक्षार्थ गये। क्यों? वात्सल्य के वशीभूत होकर धर्म की प्रभावना हेतु, यह है सच्चा रक्षा-बंधन। रक्षा हेतु जहाँ बंधन को अपना लिया गया। लेकिन आज हमारा लक्ष्य ऐसा नहीं रह गया है।

बाहर से मधुर और भीतर से कटु, ऐसा रक्षा-बंधन नहीं होना चाहिये। हमारे द्वारा संपादित कार्य बाहर और भीतर से एक समान होने चाहिये। रक्षा-बंधन को सच्चे अर्थों में मनाना है तो अपने भीतर करुणा को जाग्रत करें, अनुकम्पा, दया और वात्सल्य का आवलम्बन लेकर अषाढ़ और सावन के जल भरे बादलों की तरह करुणा भी जीवनदायिनी होती है। जो बादल मात्र गजरते हैं और बरसते नहीं हैं उनका कोई आदर नहीं करता। हमें भी जल भरे बादल बनना है, रीते बादल नहीं। आज इस पर्व के दिन हम में जो करुणा भाव है वह तन-मन-धन सभी प्रकार से अभिव्यक्त हो। इतना ही नहीं सदैव वह हमारा स्वभाव बन जाए, ऐसा प्रयास करना चाहिये।

'मैत्री भाव जगत में मेरा सब जीवों से नित्य रहे'- प्रतिदिन यह पाठ उच्चारित करते हैं पर इस मेरी भावना को व्यवहार में नहीं लाते। व्यवहार में लाने वाले महान् बन जाते हैं। गांधीजी की महानता का यही कारण रहा कि वे करुणावान थे। एक बार की घटना है-गांधी जी सर्दी में अपने कमरे में रजाई ओढ़े अंगोठी ताप रहे थे। थोड़ी रात होने पर उन्हें कहीं से बच्चों के रोने आवाज सुनाई पड़ी। बाहर आने पर उन्होंने कुत्तों के बच्चों को सर्दी के मारे रोते देखा। तब उनका हृदय भी रो पड़ा। वे उन बच्चों को उठाकर अपने कमरे में ले आये और उन्हें रजाई ओढ़ा दी। यह थी गांधीजी की करुणा।

सभी के प्रति मैत्री भाव हो इसका नाम है रक्षा-बंधन। रक्षा-बंधन पर्व सिर्फ एक दिन के लिए ही नहीं है। हमारे वात्सल्य, करुणा और रक्षा के भाव जीवन भर बने रहें, इन शुभ संकल्पों को दोहराने का यह स्मृति दिवस है। अतः इस पुनीत पर्व पर हमारा कर्त्तव्य है कि हम आत्मस्वरूप का विचार करते हुए जीव मात्र के प्रति करुणा और मैत्री भाव धारण करें। तभी यह पर्व मनाना सार्थक होगा।

□□

दर्शन-प्रदर्शन

यदि हमें महावीर भगवान बनना है तो पल-पल उनका चिन्तन करना अपेक्षित है। यह महावीर जयन्ती का आयोजन भले ही चौबीस घंटे के लिए हो, यदि यह महावीर बनने के लिए है तो सार्थक है। ऐसे ही यदि आप वर्ष का प्रत्येक दिन महावीर भगवान के लिए समर्पित कर दें तो फिर महावीर बनने में देर नहीं लगेगी। अर्थ यह हुआ कि जितना-जितना समय आप भगवान के लिए, उनके गुण, स्मरण के लिए निकालेंगे उतना ही, उनकी ओर बढ़ सकेंगे। मात्र उनका जय-जयकार ही पर्याप्त नहीं है।

भगवान महावीर के दर्शन में प्रदर्शन के लिए कोई स्थान नहीं है। कारण यही है कि दर्शन अपने लिए है, अपनी आत्मा की उन्नति के लिए है, आत्मा की अनुभूति के लिए है। दर्शन का अर्थ है देखना लेकिन प्रदर्शन में तो मात्र दिखाना ही है। देखना 'स्व' का होता है और दिखाने में कोई दूसरा होता है। आज तक संसारी प्राणी की सभी क्रियाएँ देखने के लिए न होकर दिखाने के लिए होती आयी हैं। प्रत्येक व्यक्ति इसी में धर्म मान रहा है। वह सोचता है कि मैं दूसरे को समझा दूँ। यह प्रक्रिया अनादि काल से क्रमबद्ध तरीके से चली जा रही है। यदि ऐसी क्रमबद्धता दर्शन के विषय में होती तो उद्धार हो जाता।

व्यक्ति जब दार्शनिक बन जाता है तो वह हजारों दार्शनिकों की उत्पत्ति में निमित्त कारण बन जाता है और जब एक व्यक्ति प्रदर्शक बन जाता है तो सब ओर प्रदर्शन प्रारम्भ हो जाता है। प्रदर्शन की प्रक्रिया बहुत आसान है। देखा-देखी जल्दी होने लगती है। उसमें कोई विशेष आयाम की आवश्यकता नहीं है। प्रदर्शन के लिए शारीरिक, शाब्दिक या बौद्धिक प्रयास पर्याप्त है लेकिन दर्शन के लिए एकमात्र आत्मा की ओर आत्मा पर्याप्त है। दर्शन तो विशुद्ध अध्यात्म की बात है।

महावीर भगवान ने कितनी साधना की, वर्षों तप किया लेकिन दिखावा नहीं किया, ढ़िढ़ोरा नहीं पीटा। जो कुछ किया अपने आत्म-दर्शन के लिए किया। सब कुछ पा लेने के बाद भी यह नहीं कहा कि मुझे बहुत कुछ मिला। प्रदर्शन करने से दर्शन का मूल्य कम हो जाता है। उसका सही

मूल्यांकन तो यही है कि दर्शन को दर्शन ही रहने दिया जाये। जब प्रदर्शन के साथ दिग्दर्शन भी होने लगता है तो उसका मूल्य और भी कम हो जाता है। प्रदर्शन का मूल्य भी हो सकता है लेकिन उसके साथ दर्शन भी हो। जिसने स्वयं नहीं किया वह दूसरे को क्या करवा सकेगा।

आज खान-पान, रहन-सहन आदि सभी में प्रदर्शन बढ़ता जा रहा है। आपका श्रृंगार भी दूसरे पर आधारित है। दूसरा देखने वाला न हो तो श्रृंगार व्यर्थ मालूम पड़ता है। दर्पण देखते हैं तो दृष्टिकोण यही रहता है कि दूसरे की दृष्टि में अच्छा दिखाई पड़ सकें। इस तरह आपका जीवन अपने लिए नहीं दूसरे को दिखाने के लिए होता जा रहा है। सोचिये, अपने लिए आपका क्या है? आपकी कौन-सी क्रिया अपने लिए होती है? सारी दुनिया प्रदर्शन में बहती चली जा रही है। जीवन में आकुलता का यह भी एक कारण है।

महावीर भगवान का दर्शन तो निराकुलता का दर्शन है। वह अनुभूतिमूलक है। प्रदर्शन में आकुलता है, वहाँ अनुभूति नहीं, कोरा ज्ञान है। महावीर भगवान, उस ज्ञान को महत्वपूर्ण मानते हैं जो अनुभूत हो चुका है। पराया ज्ञान कार्यकारी नहीं है, अपना अनुभूत ज्ञान ही कार्यकारी है। हमारे लिए जो ज्ञान, कर्म के क्षयोपशम से मिला है, वही ज्ञान सब कुछ है। भगवान का केवलज्ञान निमित्त बन सकता है लेकिन उस ज्ञान के साथ हमारे अनुभव का पुट नहीं है। उनका अनन्त ज्ञान क्षायिक ज्ञान है और हमारा क्षयोपशम ज्ञान है जो सीमित है। अनन्त ज्ञान हमारे लिए पूज्य है, हम उसे नमस्कार कह देते हैं कि 'वन्दे तद्गुण लब्धये'- आपके गुणों की प्राप्ति के लिए आपको प्रणाम करते हैं। गुणों की प्राप्ति स्वयं की अनुभूति से ही होगी।

स्वरूप का भान नहीं होने के कारण ऐसा हो रहा है कि अपने पास जो निधि है उसका दर्शन, उसका अनुभवन भी हमें नहीं हो पाता। सारा जीवन दूसरे के देखने-दिखाने में व्यतीत हो जाता है और अधूरा रह जाता है। जो व्यक्ति अपने जीवन को पूर्ण बनाना चाहता है वह दूसरे पर आधारित नहीं रहेगा, दूसरे का आलम्बन तो लेगा लेकिन लक्ष्य स्वावलम्बन का रखेगा। आज तक हमारा जीवन, हमारा ज्ञान अधूरा इसलिए रहा क्योंकि दूसरे के दर्शन करने और दूसरे के माध्यम से ही सुख पाने का हमारा लक्ष्य रहा। आगे तो कोई बात नहीं है, जो होना था वह तो हो गया, लेकिन आगे के लिए कम से कम उस ओर न जायें।

आचार्य कुंदकुंद स्वामी ने कहा और अनुभव भी किया कि आत्मा वीतरागी है। हम रटने लगे कि आत्मा वीतरागी है। राग का अनुभव करते हुए मात्र आत्मा को वीतरागी कहने से काम नहीं चलेगा। हमारा यह ज्ञान ठोस नहीं माना जायेगा। वह उधार खाते का ज्ञान है। इसे अपनी अनुभूति बनाना होगा। वीतरागता को जीवन में अंगीकार करना होगा। वीतरागता प्रदर्शन की चीज नहीं है। कुन्दकुन्दाचार्य महाराज कहते हैं कि मैं जो कह रहा हूँ उसे शत प्रतिशत ठीक तभी मानना जब अपने अनुभव से तुलना कर लो क्योंकि मैं जो कह रहा हूँ वह अपने अनुभव की बात कह रहा हूँ।

रत्नाकर कवि दक्षिण भारत के कवियों में मुकुट-कवि माने जाते हैं। भरतेश वैभव उनका श्रेष्ठ महाकाव्य माना गया है। उनका कहना है कि जो व्यक्ति दूसरे के माध्यम से जीवन व्यतीत कर रहा है वह तभी तक प्रशंसा कर सकता है जब तक उसे स्वयं अनुभव नहीं हुआ। अनुभव होने के उपरान्त वह जो वास्तविकता है उसे ही कहेगा। लेकिन आज तो जो व्यक्ति अपनी ओर जाता ही नहीं, देखता ही नहीं, अनुभव भी नहीं करता वह व्यक्ति भी अपने आत्मा का प्रदर्शन करने में लगा है। एक उदाहरण दिया है उन्होंने। एक कौआ था। वह पके हुए अंगूर खा रहा था। इतने में एक सियार वहाँ आया। उसने पूछा कि तुम क्या खा रहे हो। कौए ने कहा कि क्या कहूँ- बड़ा स्वाद आ रहा है। तुम भी यहाँ ऊपर आ जाओ तो मजा आ जायेगा। अंगूर ऐसे पके कि बस कहने की फुरसत ही नहीं है। नीचे गिराऊँगा तो ठीक नहीं है। नीचे धूल है, ऊपर ही आ जाओ।

सियार ने अंगूर की प्रशंसा सुन ली, उसे खाने की इच्छा भी हो गयी। लेकिन वह ऊपर कैसे जाता। उसने तीन-चार बार छलाँग भी लगा ली, जब चौथी बार भी असफलता हाथ आयी तब उसने कह दिया कि अंगूर खट्टे हैं। यही हाल हमारा है। अनुभूति नहीं है, मात्र कहा जा रहा है। प्रदर्शन हो रहा है। सैकड़ों उदाहरण प्रदर्शन के हैं। सभा में फोटो खींची गयी हो और उसमें अपना फोटो नहीं हो तो उस सारी फोटोग्राफी का कोई मूल्य नहीं है। एक व्यक्ति कमीज का कालर इधर-उधर कर रहे थे। हमने सोचा, कोई कीड़ा बगैरह चला गया होगा। पर वहाँ कीड़ा नहीं था, वे गले में पहनीं हुई चेन दिखाना चाह रहे थे। 'चेन' दिखाये बिना चैन नहीं आ रहा था। चेन के माध्यम से जो सुख-चैन ढूढ़ँ रहा है वह पराश्रित है। उसे कभी सुख नहीं मिल सकता।

सुख की अनुभूति अपने ऊपर निर्धारित है। दूसरा कोई हमें सुख नहीं दे सकता। अनन्त चतुष्टय को धारण करने वाले भगवान भी हमें अपना सुख नहीं दे सकते। स्व-पर का भेद-विज्ञान यही है। सम्यग्दृष्टि कम हैं। मिथ्यादृष्टि की संख्या अनन्त है। कोई कुछ भी कहे, हम अपने संसार के अभाव का प्रयत्न करें। सारे संसार की चिन्ता न करें। दिग्दर्शन वही कर सकता है जो स्वयं का दर्शन करता है। कुन्दकुन्द स्वामी ने लिखा है कि 'चुक्केज्ज छलं ण घेत्तत्वं'- समयसार का दिग्दर्शन मैं आप लोगों को करवा रहा हूँ यदि चूक जाऊँ तो छल ग्रहण मत करना। अपनी अनुभूति से उसका मिलान कर लेना। पंचास्तिकाय भी उनका ही प्राकृत ग्रन्थ है। जयसेनाचार्य ने उसकी टीका में उल्लेख किया है कि "श्रुत का पार नहीं है, काल बहुत अल्प है और हम दुर्मति वाले हैं। अल्पज्ञ हैं, इसलिए वही उतना ही सीख लेना चाहिये जिसके माध्यम से हमारा जन्म-मरण का जो रोग है वह दूर किया जा सके।"

यही भाव कुन्दकुन्द स्वामी ने नियमसार के अन्त में भी दिया है। 'नाना कम्मा, नाना जीवा'- कि नाना जीव है, नाना प्रकार के कर्म हैं बहुत प्रकार की उपलब्धियां हैं, अनेक प्रकार के चिन्तन है, अनेकमत हैं इसलिए व्यर्थ वचन-विवाद में नहीं पड़ना चाहिये। अनुभूति और दर्शन को महत्व देना चाहिये। प्रदर्शन ठीक नहीं है। आचार्यों ने आत्म-कल्याण के ऐसे-ऐसे उदाहरण दिये हैं कि मैं कह नहीं सकता। उनकी उदारता का वर्णन वचनों में संभव नहीं है।

चुनाव करने वाले आप हैं, प्रदर्शन आपको बहुत अच्छा लग रहा है किन्तु ध्यान रखिये कि सारा प्रदर्शनमय जीवन निरर्थक है। प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्र है, आप जैसा जीना चाहें जी सकते हैं, चूँकि आत्मोन्नति और आत्मोपलब्धि दर्शन से ही संभव है। इसलिए अपने जीवन को स्वयं संभालने का प्रयास करिये।

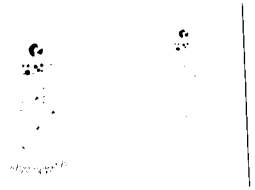

□□

व्यामोह की पराकाष्ठा

रात हो गयी। वर्षाकालीन मेघ-घटाएं आसमान में छाई हैं। बीच-बीच में बिजली भी चमक जाती हैं। मेघगर्जना के साथ मूसलाधार वर्षा होने लगी। किसने अनुमान किया था; किसने जाना था कि यह आने वाला कल, इस प्रकार खतरनाक सिद्ध हो सकता है। दुर्भाग्य का उदय था। वर्षा की रफ्तार तेज होती जा रही थी। जो नदी बहाव बढ़ने से तटों का उल्लंघन कर गयी वह नदी कहाँ तक बढ़ेगी; पानी कहाँ तक फैलेगा, कहा नहीं जा सकता। चारों ओर सुरक्षा की वार्ता पहुँचा दी गयी, लोग अपनी-अपनी सुरक्षा में लग गये। किंतु एक परिवार इस पानी की चपेट में आ गया। समाचार मिलने के उपरांत भी वह सचेत नहीं हुआ।

जो बाँध बाँधा था, वह नदी के प्रवाह में टूट गया। बाँध टूटते ही नदी का जल बेकाबू हो गया। बंधा हुआ जल फैलने लगा, मकान डूबने लगे। कुछ लोग जो सूचना मिलते ही घर छोड़कर चले गये थे, वे पार हो गये। जिसने समाचार सुनकर भी अनसुना कर दिया था वह चिंतित हो गया। वह पानी से कहता है कि अब हम इस स्थान को छोड़कर कहीं अन्यत्र चलें तो ठीक रहेगा क्योंकि पानी ज्यादा बढ़ रहा है। पत्नी कहती है कि ठीक है, मैं बच्चों को लेकर जाती हूँ, आप भी शीघ्रता करिये।

पत्नी बड़े साहस के साथ दोनों बच्चों को साथ लेकर पार हो जाती है और वह व्यक्ति सोचता है कि क्या करूँ? क्या-क्या सामान बांध लूँ। कहाँ-कहाँ क्या-क्या रखा है वह उसे खोजने में लग जाता है और पानी की मात्रा बढ़ती जाती है। वह सोचता है कि सब सामान छोड़कर भाग जाऊँ तो इसके बिना रहूँगा कैसे? इसलिये इसे लेकर ही जाऊँगा। वह जान रहा है, देख रहा है कि पानी बढ़ रहा है, अंधेरा बढ़ रहा है। वह जानता हुआ भी अंधा बना हुआ है।

'जान बूझ कर अंध बने हैं आंखन बांधी पाटी। जिया जग धोखे की है टाटि।' संसारी प्राणी की यही दशा है। काल के गाल में जाकर भी सुरक्षा का प्रबंध करना चाहता है। सिंह सामने खड़ा है और वह सोचता है कि सामान की सुरक्षा कर लूँ। धरती खिसक रही है और वह विषय सामग्री के

संचय में लगा है। वह व्यक्ति धन सामग्री लेकर जैसे ही आगे बढ़ता है, नदी के प्रवाह में बहने लगता है। जो कुछ सामान साथ में लिये था वह भी बहने लगता था। देखते-देखते नदी के प्रवाह में उसका मरण हो जाता है। लेकिन मरणोपरांत भी उनके हाथ से पोटली नहीं छूटती जिसमें उसने सामान एकत्रित किया था। दूसरे दिन शव के साथ पोटली भी मिलती है। तो लोग दंग रह जाते हैं। यह तीव्र मोह का परिणाम है।

मोह को जीतना मानवता का एक दिव्य-अनुष्ठान है। इसके सामने महान योद्धा भी अपना सिर टेक देते हैं। विश्व का कोई भी ऐसा प्राणी नहीं है जो मोह की चपेट में न आया हो, लेकिन इसके रहस्य को जानकर इस मोह की शक्ति को पहिचानकर, इस मोह की माया को जानकर, जो व्यक्ति इसके ऊपर प्रहार करता है वही इस संसार रूपी बाढ़ से पार हो जाता है। यह सन् 1957 की घटना थी। महाराष्ट्र में पूना के पास एक बांध था, वह ध्वस्त हो गया था। यह आश्चर्यजनक घटना उस समय अखबारों में पढ़ने में आयी थी। पत्नी और बच्चे सुरक्षित निर्दिष्ट स्थान पर पहुँच गये लेकिन मोह के कारण वह व्यक्ति बह गया। मोह का प्रभाव जड़ के ऊपर नहीं, चेतन के ऊपर पड़ता है। जीवन के केंद्र पर चोट करता है मोह। आदमी मोह की चपेट में आकर छोटी-छोटी बातों से प्रभावित हो जाता है और अपने आपको भूल जाता है।

प्रत्येक प्राणी जानता है कि मोह हमारा बहुत बड़ा शत्रु है लेकिन मोह से प्रभावित हुए बिना नहीं रह पाता। वह दूसरे को उपदेश दे देता है लेकिन खुद सचेत नहीं होता, यही तो खूबी है मोह की। उस घटना को पढ़कर लगा कि बढ़िया तो वही है कि बाढ़ आने से पूर्व ही वहाँ से दूर चले जायें। क्योंकि जब बाढ़ आयेगी तो प्रवाह इतना तीव्र रहेगा कि इसमें हम बच नहीं सकेंगे। जानते हुए भी वहीं रहे आना, इसे आप क्या कहेंगे। यह मोह से प्रभावित होना है, यह स्वयं की असावधानी भी है। 'जानबूझ कर अंध बने है', वाली बात है।

जो व्यक्ति मोह के बारे में जानते हुए भी, उससे बचने का प्रयास नहीं करता वह संसार सागर में डूबता है। वह व्यक्ति पार हो जाता है जो पार होने का संकल्प और विश्वास अपने अंदर रखता है और निरंतर मोह से बचने के लिए प्रयास करता है। वास्तव में, जिसने जो जोड़ा है उसे वह छोड़ना बहुत कठिन होता है। 'पर' पदार्थों की ओर से आंख मींच लेना आसान नहीं

है। जबर्दस्ती कोई आंख मींच लें, ये अलग बात है। आप खेल-खेल में भी आंख मींच सकते हैं, यह भी आसान है लेकिन तब भी काम नहीं बनेगा। पदार्थों से दृष्टि हटाकर आत्मा की ओर ले जाना ही सच्चा पुरुषार्थ है।

मोह के ऊपर प्रहार करना, उसे जीतना, इसी का नाम है धर्म! कहीं भी किसी भी जगह आप चले जायें, धर्म एक है और एक ही रहेगा। जो तैरना जानता है उसे तैरना आवश्यक होता है, जो तैरना नहीं जानता उसे सीखना आवश्यक होता है। तैरना जानते हुए भी, पार करना जानते हुए भी वह व्यक्ति पार नहीं हो पाया। एक पत्नी थी, दो बच्चे थे, मकान था और वह संग्रहीत द्रव्य था; यही उसका जीवन था, संसार था। उसने पत्नी को छोड़ दिया, बच्चों को भी छोड़ दिया, पर धन को नहीं छोड़ सका। अकेला होता तो धन की भी कोई जरूरत नहीं थी किन्तु मन में तो परिवार का ख्याल था, इसलिए धन की आवश्यकता हो गई और मोह का जाल बिछता गया, वह स्वयं ही बिछाता गया और ऐसा बिछाता गया कि पैर रखते ही उसमें फँसता चला गया। यह है व्यामोह की पराकाष्ठा, जहाँ अपने जीवन से भी हाथ धोना पड़ा।

इससे बचने के लिए जागृति परम आवश्यक है। जागृति के अभाव में मोह की चपेट में आ जाने से हमारा आचार-विचार, हमारा दैनिक कार्यक्रम सारा का सारा पराधीन हो जाता है। स्वतंत्रता का एक अंश भी हमारे जीवन में नहीं आ पाता। जैसे मरण से पहले जागृति के साथ यदि मरण को पहचानने की कोशिश की जाए तो जन्म मरण से मुक्त हुआ जा सकता है। ऐसे ही मोह को समझने, मोह के परिणामों को पहचानने का प्रयास यदि कोई जागृत होकर करता है तो मोह से बच सकता है।

एक बार एक सेठ बीमार पड़ा। बीमार पड़ते ही फोन करके डॉक्टर को बुलाया गया। उसने आकर सेठ को देखा और मन में विचार आया कि बड़े सेठ हैं, सम्पत्ति की कोई कमी नहीं, जो पैसा मुझे अन्य लोगों से मिलना है उससे अधिक यहाँ मिल सकता है। विचार आते ही डॉक्टर साहब बोले कि 'सेठ जी जो रोग आपको हुआ है वह असाध्य रोग है और इलाज भी क्या करें, मेरी समझ में नहीं आता। रोग पर काबू पाना असंभव सा लगता है।' सुन रहे हैं आप। वह डॉक्टर सब कुछ जानता है कि कौन सा रोग है और कितनी मात्रा में बढ़ा है लेकिन भीतर बैठा हुआ मोह यह सब कहलवा रहा है।

डॉक्टर की बात सुनकर सेठजी के लड़के ने कहा कि डॉक्टर साहब। आप निशिचंत रहिए और जो इलाज सम्भव हो वह करिए। आप जितना चाहेंगे आपको मिलेगा। और रुपये का बंडल डॉक्टर को दिखा दिया। पर डॉक्टर का मोह और बढ़ गया। उसने कहा कि भारत में इस प्रकार की दवाई मिलना संभव नहीं है, विदेश से मंगानी पड़ेगी। उसके लिए अधिक खर्च होगा। सेठ के लड़के ने अबकी बार सौ-सौ का एक बंडल और दिखा दिया। यह सब देखकर डॉक्टर सोचने लगा कि देखें कहाँ तक रुपया बढ़ाता है। संभव है थोड़ा और कह तो पचास साठ हजार तक बात पहुँच जाए। और डॉक्टर ने आपरेशन की सलाह दे दी।

आपरेशन की बात ने सभी चिंतित हो गये। सेठ के लड़के ने फौरन एक लाख रुपया डॉक्टर के सामने रख दिया और कहा कि आप आपरेशन करिये। पिताजी को किसी तरह बचा लीजिए। अब देखिए। यहाँ क्या होता है। एक लाख का नाम सुनते ही उस डॉक्टर को हार्ट अटैक हो गया। अब सोचिये यह कैसा ज्ञान है जो जीवन के लिए घातक सिद्ध हो गया। जड़ पदार्थ के द्वारा चेतन का विनाश हो गया, यह सब मोह का प्रभाव है- 'मोह महामद पियो अनादि, भूल आपको भरमत वादी' मोह रूपी मदिरा का नशा संसार के प्रत्येक प्राणी को चढ़ा है फिर चाहे वह इंजीनियर हो, चाहे डॉक्टर हो, चाहे और कोई हो।

जिसने इस मोह के रहस्य को पहचाना है उसने अपने जीवन को उज्ज्वल बनाया है। उससे बढ़ कर महान् व्यक्ति इस संसार में दूसरा नहीं है। दुखों की जड़ है मोह-मैं और मेरेपन का भाव। देखना और जानना आत्मा का स्वभाव है किन्तु मोह के वशीभूत होकर संसारी प्राणी शरीर और पर पदार्थों को भी अपना ही समझता है। आप कुछ भी करते हैं, तो क्या कहते हैं। यही कि मैं बोल रहा हूँ, मैं बैठ रहा हूँ, मैं सो रहा हूँ। बताइये कौन-सी क्रिया के साथ-साथ अपने आपको पृथक जानते हुए क्रिया करते हैं। सारी क्रियाएँ मैं ही कर रहा हूँ, सभी को यही अनुभव में आता है। कोई ऐसा व्यक्ति है जो यह कहे कि मैं खिला रहा हूँ, मैं सुला रहा हूँ। बिरले ही लोग हैं जो शरीर से स्वयं को पृथक् अनुभव करते है। जितना-जितना शरीर से पृथक आत्मा के अस्तित्व का अनुभव बढ़ता जाएगा, उतना-उतना मोह के ऊपर प्रहार होता चला जायेगा। मोह को यदि क्षीण करना चाहते हो तो आत्म-तत्त्व को पृथक् जान लो।